मूल्य १२.००

प्रकाशक :
अरविन्दकुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-११०००६

मुद्रक : जी० आर० कम्पोज़िंग एजेंसी द्वारा
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

क्रम

कविता के कारखाने में छायावाद

कविता के कारखाने में एक पुरानी पीढ़ी की हिस्सेदारी को अपने ढंग से समझने-बूझने और उस समझ-बूझ का कुछ लेखा-जोखा बिठाने की कोशिश नए रचनाकार और नए पाठक के लिए एक जरूरी और दिलचस्प कोशिश है। व्यक्तिगत स्तर पर अपनी रचनात्मक समस्याओं से जूझते हुए और अपने समकालिक तथा निकट पूर्ववर्ती कवियों के कृतित्व से गुजरते रहने के दौरान भी यह जरूरत अधिकाधिक स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आई है। नयी कविता के दौर में कुछ खास कवियों का अध्ययन करते हुए हम पाते हैं कि उनके आस्वाद और विश्लेषण की प्रक्रिया हमें अनिवार्य ढंग से पीछे देखने को प्रेरित करती है और उस जमीन पर भी लाकर खड़ा कर देती है जहाँ प्रसाद, निराला और पन्त जैसे कवियों ने भी कमोबेश उसी या दूसरे किस्म की समस्याओं से जूझते हुए भाषा में अपनी काव्यमुक्ति हासिल की थी। कुछ प्रयोग आविष्कार तक पहुँचाते हैं, कुछ नहीं। पर ऐसे प्रयोगों की स्वयं उस कवि के लिए—उसके व्यक्तिगत विकास-क्रम में—एक अनिवार्यता होती अवश्य है। पहले ब्रजभाषा और उसके बाद खड़ी बोली के छन्द में लगभग उसी विषय-वस्तु को अभिव्यक्ति देने का जो प्रारम्भिक उद्यम प्रसाद को करना पड़ा, वह हमारे लिए न सही, उनके लिए जरूरी था। और हम देख सकते हैं—स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं कि एक भाषा के काव्यगुण को दूसरी भाषा में किसी हद तक ले आने की—दोनों की व्यंजना-सामर्थ्य का तुलनात्मक विवेक सिद्ध कर लेने की—जो विवशता प्रसाद ने अनुभव की, उसके कुछ ठोस नतीजे उनके लिए निकले जो कि बाद में हिन्दी में काम करने वाले हर व्यक्ति के लिए उपयोगी हुए।

कविता के कारखाने में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष साझों की एक लम्बी परम्परा हुआ करती है जिसे अनेक पीढ़ियों में विस्तृत होते देखा जा सकता है। जब जयशंकर प्रसाद

ने गुरु का बन्धन तोड़कर पद्य में कहानी के सहज प्रवाह को निराला किया तो वे
आगर. ही नहीं, आगे भ.। धारे नदियों का मार्ग भी प्रशस्त कर रहे थे। उनकी
'अनन्त' कविता पढ़ते हुए हमारा ध्यान उसके छन्द की बुनावट की ओर आकर्षित
होता , तो क्यों होता है ? इसीलिए न, कि वह नया है और सोचने-महसूसने के नए
ढंग और नए तेवर की माँग लेकर उभरकर आया है। "स्मरण हो रहा दीन का कटना /
दम और नए तेवर की माँग ...··· कल्पनातीत काल की घटना···।" बात नई है क्योंकि—और इसलिए कि—अन्दाज़ नया
है। हमें लगता है—हम आश्वस्त हो जाते हैं—कि बात इसी तरह, इसी वाक्य-विन्यास
में और शब्दों की इसी चाल में कही जा सकती थी। यह भी हमारी समझ में आने
लगता है कि मैथिलीशरण गुप्त की कविता से यह कविता किस प्रकार अपनी भिन्नता
स्थापित करती है क्योंकि लय और वाक्य-विन्यास की वह मौलिकता हमारा ध्यान
आकर्षित करती है जिसके बिना भाषा में ताकेनिकता नहीं आ पाती और अप्रत्याशित
की उत्तेजना भी न रहने से पद्य एकरस और इकहरा हो जाता है। द्विवेदी-युग
के पद्य के अभ्यस्त कानों को यहाँ निश्चय ही एक नया अनुभव होता। वैसा ही नया
सेंसेशन जैसा कि छायावादी पद्य के अभ्यस्त कानों के लिए अज्ञेय के "ओ पिया पानी
बरसा" का नया लयात्मक उत्तेजन देता है। प्रसाद ने भी लय बदली—उसमें थोड़ी
वक्रता पैदा की और अज्ञेय को भी यही करना पड़ा। तुलना कीजिए और देख लीजिए—
बिना इस सूक्ष्म पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण 'विचलन' के ये दोनों कविताएँ कैसे अपना असर
करती ? दोनों का अर्थ-संवेदन (या कह लीजिए प्रभाव-संवेदन) दोनों के उपरोक्त
लयात्मक वैशिष्ट्य से कितना गहरे एकात्म है। कविता के कारखाने में जो भी नया माल
बनता है, वह इसी तरह के छोटे-छोटे और बारीक टेकनिकल आविष्कारों के फल-
स्वरूप आता है। हमने अप्रत्याशित की उत्तेजना की बात की जो कि कविता के लिए एक
बहुत जरूरी चीज है—भाषा की ताकत वापस लाने के लिए। यह काम लय के बारीक
उपकरणों से ही नहीं, तुक के अपेक्षाकृत स्थूल औजार से भी किया जाता है। गीत के
जटिल से जटिल विन्यास साध लेने के बाद निराला को 'तोड़ती पत्थर' और 'कुकुर-
मुत्ता' में देखिए। "गर्द-चिनगी छा गई / प्रायः हुई दुपहर···" इससे भी ज्यादा, इससे
भी आगे की स्वतंत्रता पद्य में कैसे लाई जाती—सिवा उस चीज के, जिसे अंग्रेज़ी में
स्प्रंग-रिद्म कहते हैं ? (हिन्दी में क्या कहते होंगे—खण्ड छन्द ?) और जिसका कुछ स्वाद
हमें 'कुकुरमुत्ता' का पद्य देता है ("कहीं का रोड़ा कहीं का लिया पत्थर / टी० एस०
एलियट ने जैसे दे मारा···" क्या हम कृतज्ञ नहीं महसूस करते कि चलो बेचारे एलियट
की क़ीमत पर ही सही, यह सुलाव आया तो)। इसी 'कुकुरमुत्ता' में देखिए : "तू है
नकली मैं हूँ मौलिक / तू है बकरा मैं हूँ कौलिक···" अगर इन पंक्तियों की तुक-धारी
आपकी कल्पना को जबर्दस्त झटका नहीं देती तो श्रीकान्त वर्मा की "एक आदमी दूसरे
- दूसरा तीसरे का दहेज है / जिसकी वाणी में आज तेज है···" कैसे आपको
? इस तरह देखा जाय तो कुकुरमुत्ता नयी कविता की शुरूआत है।
भी तुकों और लयों के साथ कोई कवि मौलिक आचरण करेगा, किसी
उद्देश्य के तर्क से ही करेगा और इस क्रिया के द्वारा भाषा की ताज़गी फिर

लीविस ने कहीं लिखा है और ठीक ही लिखा है कि "द ओनली टेक्नीक दै
इज़ दैट, व्हिच कमाँण्ड्स वर्ड्स टु एक्सप्रेस एन इंटेंसली पर्सनल वे ऑव फीलिंग
द रीडर रैस्पौण्ड्स नॉट इन ए जनरल वे दैट ही नोज़ बिफोर हैण्ड टु बी पोए
वट इन ए प्रिसाइज़, पर्टीकुलर वे दैट नो फीक्वेंटिंग ऑव पापुलर एन्थालॉजी
हैव मेड फैमिलियर टु हिम"...। प्रसाद की 'कचाई' या निराला की 'शेष' काफ
आज के दिनों की रचनाएँ हैं पर उन्हें पढ़ते हुए हम एक ताजगी का अनुभव
क्योंकि ये महज़ 'शिल्प' नहीं है, आविष्कृत शिल्पविधियाँ है। पहले की कवि
हमारा परिचय हमें इस अनुभव के लिए पहले से प्रस्तुत नहीं करता। हम एक ता
अप्रत्याशित स्वर से संवेदित होते हैं और नये ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं। उ
अचूक, कि यह नया शिल्प है चूंकि नया संवेदन है भाषा का, अनुभव-सत्य का
इसलिए कि नितान्त निजी और विलक्षण ढंग से सोचने-महसूसने का तरीक
झलकता है। छायावाद के युग में हमें बहुत दिन बाद कुछ ऐसी रचनाएँ मि
जिनकी शिल्पविधि कवि की निजी, विशिष्ट और चारित्रिक ज़रूरत के तना
अर्जित की गई हो और जिनका आस्वाद-विश्लेषण पाठक के लिए सचमुच एक
पेश करता हो। कहना न होगा कि यह हर दौर के साधक कवि की सम
कविता लिखने के लिए महज़ कवि की उत्तेजित मन स्थिति ही काफी नहीं हो
तथ्य पर जोर देना आज जितना जरूरी लगता है, उतना शायद ही कभी
होगा।

शिल्प का संजग अध्यवसाय और उत्साहमय प्रयोगशीलता हमें प्रसाद व
पन्त और निराला में ज्यादा स्पष्ट देखने को मिलती है। पन्त का शिल्पोत्स
उजागर दीखता है. 'उच्छ्वास' या 'आँसू' जैसी कविताओं को ही ले लीजिए
कविता के अन्दर लय का यह वैविध्य, यह विन्यास, भाव के अनुकूल उसका
वर्तन हमें मुग्ध कर देता है। शब्दों के चुनाव, उनके रस-स्वाद के बारे में पन्त,
और प्रसाद की अपेक्षा अधिक चिन्तित मालूम पड़ते हैं, अधिक कुशल भी
जब हम इस प्रयोगशीलता का समूचे काव्य-व्यक्तित्व के साथ क्या रिश्ता रहा
पर विचार करने लगते हैं तो हम पाते हैं कि जिस प्रकार का 'विजन', वि
की सघनता और एकता का अनुभव प्रसाद और निराला की कविता देती
प्रकार की सघनता और एकता का अनुभव पन्त नहीं देते। दूसरे शब्दों में

प्रयोगशीलता में निहित कवि की आन्तरिक जरूरत का तकाजा जितनी तीव्रता के साथ प्रसाद और निराला के आरंभिक और बाद के कृतित्व में महसूस किया जाता है, उतनी तीव्रता के साथ पूर्व पन्त और उत्तर पन्त की कविता में नहीं। 'कचाई' और 'लहर' और 'कामायनी' एक-दूसरे की ओर संकेत करते हैं, कवि-व्यक्तित्व की एकसूत्रता को, अनिवार्य विकास-क्रम को सूचित करते हैं। जबकि 'आँसू', 'उच्छ्वास' ज्यादा-से-ज्यादा 'परिवर्तन' की ओर इशारा करके रह जाते हैं। 'ग्राम्या' या 'अतिमा' के कवि के साथ उनकी वैसी अनिवार्य संगति नहीं बैठती, कोई वैसी अनिवार्य पूर्वापरता नहीं महसूस होती, जैसी कि प्रसाद या निराला के शुरू और बाद की कविता में होती है। प्रसाद की यह समग्रता प्रसाद वाले निबन्ध में नियोजित विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगी। निराला के विकास-क्रम का भी कुछ आभास इन निबन्धों से हो सकेगा। यहाँ हम इस अनिवार्य पूर्वापरता वाली बात को स्पष्ट करने के लिए, और तुलनात्मक दृष्टि से पन्तजी की तद्विषयक आलोचना के नुक्ते को उभारने के लिए एक ठोस दृष्टान्त देख सकते हैं। पन्तजी की 'उच्छ्वास' सन् '२२ में लिखी गई थी। निराला की भी सन् '२२ में ही लिखी एक प्रारम्भिक कविता है जिसका शीर्षक है—'हताश।' पढ़िए—

> जीवन चिरकालिक क्रन्दन
> मेरा अन्तर वज्र-कठोर
> देना जी भरसक झकझोर
> मेरे दुख की अन्ध गहन
> तम निशि न कभी हो भोर
> क्या होगी इतनी उज्ज्वलता
> इतना वन्दन-अभिनन्दन
> हो मेरी प्रार्थना विफल
> हृदय-कमल के जितने दल
> मुरझाएँ जीवन हो म्लान
> शून्य सृष्टि में मेरे प्राण
> प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की
> मेरा जग हो अन्तर्धान
> तब भी क्या ऐसे ही तम में
> अटकेगा जर्जर स्पन्दन ?

इस पुस्तक में 'भाषा की काव्यमुक्ति' शीर्षक निबन्ध में हमने निराला की ही एक दूसरी कविता की चर्चा की है: 'मरण-दृश्य' की। लगे हाथ उसे भी पढ़ जाइए और देखिए। यह बाद वाली कविता सत्रह साल बाद लिखी गई थी, सन् '३९ में। मगर क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि कविता का कोई भी अच्छा पाठक बिना नाम जाने भी बता सकता है कि ये न केवल निश्चित रूप से एक ही कवि की दो कविताएँ ... मी, कि दोनों के बीच संवेदना की, काव्य-व्यक्तित्व की एक मूलभूत एकता

(समानशीलता) भी है। चाहे बाद वाली कविता इस पहले वाली कविता से स्वयं कवि के विकास-क्रम में कितनी ही प्रौढ़ क्यों न प्रतीत होती हो, उसका निश्चित सम्बन्ध इस पहले वाली कविता के साथ उसे स्पष्ट दीख जाएगा।

निश्चय ही 'मरण-दृश्य' की संवेदना अधिक प्रौढ़ है; क्योंकि उसमें 'दृष्टि' भी है; सिर्फ 'दृश्य' ही नहीं। और वह दृष्टि 'दृश्य' में डूबकर, उससे रचना के स्तर पर जूझकर प्राप्त की गई है। 'हताश' में जीवन-दृष्टि का वह रचाव नहीं है पर दृष्टि पाने की छटपटाहट जरूर है; प्रश्नाकुलता है और आत्म-करुणा की विह्वल तीव्रता है—ऐसी विह्वल तीव्रता, जो निराला के कवि का अपना खास चारित्रिक स्वर है और जिसकी गूँज हम 'सरोज-स्मृति' में भी साफ पहचान सकते हैं : "हो इसी कर्म पर वज्रपात / यदि धर्म रहे नत सदा माथ / इस पथ पर मेरे कार्य सकल / हों भ्रष्ट शीत के से शतदल"...। क्या इसमें हमें 'हताश' वाले सत्रह साल पहले के कवि की खास अपनी आवाज नहीं सुनाई पड जाती ? ("हो मेरी प्रार्थना विफल / हृदय-कमल के जितने दल"...) एक ओर इस गहरी आत्म-करुणा और नैराश्य के बीच में भी एक विनम्र स्वीकार का भाव, एक पवित्र औदात्य झलक मारता है ("क्या होगी इतनी उज्ज्वलता, इतना वन्दन-अभिनन्दन") और दूसरी ओर इस स्वीकार को काटता हुआ एक-विरोधी प्रश्न भी जग उठता है, "फिर भी क्या ऐसे ही तम में अटकेगा जर्जर स्पन्दन ?" यह निश्चय ही एक जटिल भाव-बोध है पर 'मरण-दृश्य' की कविता अधिक प्रौढ़ है क्योंकि अधिक अर्जित कविता है। उसके सगठन में अधिक विरोधी तत्त्वों का समाहार हुआ है। उसमें भाव का विकास भी अधिक वक्करदार और अधिक पूर्ण है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मरण-दृश्य' की प्रक्रिया में 'हताश' की प्रक्रिया को पहचाना जा सकता है। एक व्यक्तित्व की, एक जीवनव्यापी संघर्ष की अन्विति दोनों में पहचानी जा सकती है। तुलना में पन्तजी का काव्य-व्यक्तित्व उतना संघर्षशील, उतना विकसशील नहीं दीख पडता। वे निश्चय ही ज्यादा स्वच्छ और व्यवस्थित कवि हैं पर उनकी 'व्यवस्था' भीतर और बाहर की किसी बडी अव्यवस्था से टकराते हुए अर्जित की गई नहीं लगती। उसमें एक निरावेग असम्पृक्त किस्म की चिंतनशीलता है जो संवेदन और शिल्प दोनों स्तरों पर समस्या को सरल कर देती है। जटिल भाव-बोध की ओर नहीं ले जाती। प्रसाद के साथ ऐसा नहीं है। उनकी बौद्धिकता उनकी कवि-संवेदना के साथ घनिष्ठ रूप से संगुम्फित है और संघर्षगुण का वैशिष्ट्य उनकी कविता में शुरू से आखिर तक मौजूद रहा है। प्रसाद 'चिंतनशील' कवि नहीं हैं पन्त की तरह। 'बौद्धिक' कवि हैं। दोनों के बीच जो फर्क है उसे साफ देखा जा सकता है। आगे के विश्लेषणों में हम उम्मीद करते हैं, कि यह फर्क ज्यादा स्पष्टता के साथ उभरकर सामने आ सकेगा। प्रसाद के चिन्तन के विकास के समानान्तर प्रसाद की कविता भी प्रौढ़ होती गई हैं। पन्तजी में यह 'चिन्तनशीलता' जितनी ही बढ़ती गई है, कविता उतनी ही सपाट और उथली होती गई है।

प्रत्येक कवि में विलक्षणता का तत्त्व पहले अनगढ़ होता है। धीरे-धीरे ही उसमें पकाव-मँजाव आता है। पहले व्यक्तिगत प्रतिभा अपना अलग वैशिष्ट्य स्थापित

करती है। धीरे-धीरे वह उस भीतर की तरफ बढ़ती गई है जिसे हम 'जातीय प्रतिमा' कह सकते हैं। यह कविता की, कवि-कर्म की अंतर्यात्रा जैसा है। यह अंतर कवि के अन्तराल से गुजरती नहीं है। सांस्कृतिक निर्वासन का—या इसका उल्टा का—असर कभी नहीं पड़ता, वह तो उसे बढ़ाता ही जाता है। उसमें उत्तरोत्तर तीव्रता भरता जाता है। पर अब उसमें ज्यादा-से-ज्यादा भाषा का इतिहास बोलने लगता है। कवीन्द्र, कवि के पुरखे भी बोलने लगते हैं और कवि का अपना युग-संवेदन भी उस संवेदना की ओर से अधिकाधिक गहरा होकर फिर आता है। प्रसाद और निराला के कृतित्व में यह प्रक्रिया ज्यादा गहरे स्तरों पर अनुभव की जा सकती है। पंत में अपेक्षाकृत कम। और महादेवी में सबसे कम। पंत की काव्य-संवेदना का विस्फोटक उफान बहुत जल्दी चुक जाता है और संघर्षशील अस्मिता तथा इतिहास-बोध के अभाव में वह अक्सर ही चिन्तनशीलता की सुरक्षित दूरी से मण्डित हो जाता है। जबकि प्रसाद और निराला का उत्कृष्ट काव्य हमेशा विशिष्ट आवेग की जीवित क्रिया-शीलता से घटित होते महसूस किया जा सकता है। महादेवी के कवित्व को उनकी कविता से ज्यादा उनके गद्य में निखार मिला है और उनके चिंतन को भी उनकी कविता की बजाय कविता की भूमिकाओं में। संवेदना, चिन्तना और कवि-कर्म की स्थितियाँ महादेवी के यहाँ अलग-अलग हैं। कवि के आखिर उत्कर्ष से स्वतन्त्र मात्र और अभिव्यक्ति की तराश वाला यह शिल्प-कर्म भी कविता के कारखाने की एक अतिरिक्त उपज है जो नितान्त अनुपयोगी नहीं कहा जा सकता। यह एक प्रकार का प्रत्यावर्तन है रीतिकाल में,—जिसके नमूने नई कविता में भी—सिर्फ़ माथुर या माचवे के यहाँ ही नहीं, अपेक्षाकृत बेहतर कवियों की भी अनेक कविताओं में—ढूँढे जा सकते हैं। इसे आप ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति कहकर नहीं टाल सकते। हिन्दी साहित्य के विशेष परिदृश्य में इस कोटि की कविता का भी महत्त्व है। क्योंकि वह हमारे एक अधिक 'साहित्यिक' युग में सचेत ढंग से प्रवेश कर जाने की सूचना है।

●

हमने जातीय प्रतिमा की बात योंही नहीं उठाई है। क्या हम ऐसा महसूस नहीं करते कि जिस सहज आत्मविश्वास के साथ छायावादी कवि जातीय स्मृति के साथ अपना रचनात्मक सम्बन्ध जोड़ सके थे, वह आज दुर्लभ होता जा रहा है? यूनानी कवि जॉर्ज सेफ़रिस की तरह आज का हिन्दी कवि अपनी आत्मस्थिति के बारे में सोचे तो वह अपने को अपनी जातीय-स्मृति से कुछ कम कटा हुआ नहीं पाएगा। न सही सामान्य भारतीय प्रजा, मगर भारतीय लेखक कहीं न कहीं ज़रूर यह जाति-निर्वासन अपने लेखन में महसूस करता है। निस्सन्देह यह भीतरी और बाहरी परिस्थितियों के एक ऐसे दबाव का प्रतिफल है जो इस मानी में अभूतपूर्व हो सकता है कि उसकी प्रतिच्छाया आज के कवि को आसानी से अपनी काव्य-परम्परा में कहीं नहीं मिलती और वह नहीं जानता कि उसके विशिष्ट मानसिक संघर्ष का प्रतिरूप उसकी अपनी जातीय स्मृति में कहाँ है। परन्तु अगर यह है भी तो उसके लिए जिस प्रकार के आत्म-—अध्यवसाय की—अज्ञेय के शब्दों में 'पूरी संस्कृति के आत्म-दर्शन' की—ज़रूरत

होती है, वह हमारे यहाँ ज्यादातर निष्क्रिय ही रहा है। वाल्मीकि और व्यास ने जो केन्द्रीय हैसियत कविता को और कवि को दिलाई थी अपनी सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में, उसे, ऐसा प्रतीत होता है कि बाद के कवि निभा नहीं पाए। परवर्ती युगों की कविता उस दायित्व से स्खलित हो गई। उसकी वह महिमा नहीं रही। भक्तिकाल में यह दुश्चक्र टूटा तो सही, पर जल्द ही फिर जुड़ गया।

उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण का इतना महत्त्व तो स्वीकारना ही होगा कि उसने हमारी सदियों से अवरुद्ध आत्मालोचना का विस्फोट सम्भव बनाया। जातीय स्मृति के प्रति—हमारी उस अनेकविध, अन्तर्विरोधसम्पन्न मानसिक विरासत के प्रति—उस वक्त कई दृष्टिकोण सामने आए जो मात्र पुनरुत्थानवादी न होकर आलोचनात्मक, संशोधनवादी और परिष्कारपरक थे। इनमें सबसे कम समन्वयवादी, सबसे अधिक आलोचनाप्रखर दृष्टि स्वामी दयानन्द की थी जो जातीय स्मृति को उसके मूल स्रोत पर ही पकड़ना चाहती थी। किन्तु शायद अत्यधिक शुद्धिपरक और ज्ञानकाण्डी होने के कारण ही आर्यसमाज हमारी तत्कालीन चेतना और उसके सबसे सचेत बिन्दु अर्थात् कविता में गहरे नहीं पिंद सका। उसकी काव्य-समवता इसलिए भी शायद बहुत कम थी कि वह हमारी जातीय स्मृति के एक बहुत बड़े अंश का बलिदान कर देती थी। शायद इसीलिए वह हमारे कवियों को प्रभावित नहीं कर सका। स्वामी दयानन्द का कार्य कुछ-कुछ शंकराचार्य से तुलनीय ठहरता है और रामकृष्ण-विवेकानन्द का रामानुज-मध्वाचार्य से। निराला ने तारीफ दोनों की की है पर कवि के रूप में उनके असली प्रेरणास्रोत विवेकानन्द ही हैं। प्रसाद की प्रतिभा अलबत्ता जरूर दयानन्द की वैचारिक प्रखरता का सर्जनात्मक गुणनफल प्रतीत होती है। तो भी वह आर्यसमाज के विचार-दर्शन की सीमाओं में कहीं बँधती नहीं। उसे अतिक्रान्त करती है। वह श्री अरविन्द की समग्रता के अधिक समीप है, हालांकि प्रसादजी के श्री अरविन्द से उस तरह प्रभावित होने का प्रश्न ही शायद नहीं उठता। यह इस पुनर्जागरण की ही महिमा है जिसने श्री अरविन्द को पहले वेदों के और फिर उसी अनिवार्य तर्क से—उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, वैष्णव और शाक्त परम्पराओं के—नवीन अध्ययन की, और आलोचनात्मक पुनःपरीक्षण की, पुनर्व्याख्या की गंभीर प्रेरणा दी। स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द के बाद श्री अरविन्द का यह कार्य भारतीय भाव-बोध के इतिहास में दूसरी बड़ी घटना थी, जिसका कोई खास असर हिन्दी कविता पर पड़ा नहीं दीखता। पंतजी जरूर उस तरफ आकर्षित हुए पर इस आकर्षण के उनकी कविता के लिए कोई खास नतीजे नहीं निकले। उन्हें वहाँ सिर्फ एक 'यूटोपिया' मिला जिसने उनकी असाध्य स्वप्नशीलता को एक टेक और दे दी। ज्यादा-से-ज्यादा उन्होंने यही किया कि 'अपने यूटोपिया' को उससे अलग सिद्ध करते हुए कुछ पद्यात्मक तर्क लिख डाले। मगर उस प्रेरणा देने वाले यूटोपिया के पीछे जो दिमाग काम कर रहा था—समूची परम्परा के पुनःपरीक्षण और साक्षात्कार का जो गंभीर प्रयत्न उसमें सक्रिय था—उससे टकराने का धीरज और उत्साह उनमें नहीं दिखा। कैसे दिखता? पंतजी प्रसाद नहीं थे।

इतिहास की जो तीसरी बड़ी घटना है—गांधीजी, उससे भी हमारे कवियों के
तन्त्र में कोई खास हलचल हुई नहीं दीखती । गद्य के लिए जरूर उसके कुछ
नतीजे निकले पर कविता में गांधीजी सिर्फ "निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अन्तिम
शिखोदय" ही बनकर रह गए । इससे तो "बापू तुम मुर्गी खाते यदि" ही ज्या
दिलचस्प है । *यहां कम-से-कम गांधीजी के साथ कवि का रिश्ता सीधे-सीधे कवि*
का रिश्ता तो है—तीखी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया का रिश्ता तो है । जबकि पंत
की कविता का रिश्ता गांधी के साथ आवेगात्मक रिश्ता नहीं है । 'चिंतनशीलता'
रिश्ता है । इसलिए ठंडा रिश्ता है । कविता का रिश्ता नहीं है ।

सोचना पड़ेगा कि क्या यूनानी कवि क़वाफ़ी के क़दोकामत का एक भी क
हमारे बीच है जिसके बारे में हम यह दावा कर सकें कि इस आदमी ने *निता*
आधुनिक और जटिल संवेदना के भीतर से जातीय स्मृति के जीवन्त बिम्बों-प्रतीक
द्वारा अपनी आत्मस्थितियों को और उनके माध्यम से अपने समय की उलझी हु
सचाइयों को कविता में साक्षात् किया है ? अपनी तमाम सीमाओं और आत्मतुष्टियों
के बावजूद तथाकथित छायावादी युग का कुछ काव्य इस समस्या से जूझने का, इस
सार्थक संघर्ष या कुछ अन्तःप्रमाण हमें सुलभ कराता है । वह क्या हमारे लिए
प्रासंगिक नहीं हो सकता ? वह अत्यावश्यक संघर्ष आगे बढ़ा है या वहीं का वहीं ठप्प
है, इस पर विचार करना जरूरी है । हमारे अन्दर आज भी अपने जातीय स्वभाव की
सारी व्याधियां—जैसे अनुपातहीनता, गड्डमड्डपन, अन-एकता और अतिशयोक्ति
आज भी उतनी ही—बल्कि ज्यादा ही—*सक्रिय हैं । अगर कुछ सक्रिय नहीं है तो*
केवल वह सर्जनात्मक उत्साह, वह भारतीय रचना-दृष्टि जो इन अवगुणों को भी गुण
में बदल देती है ।

उस तथाकथित पुनर्जागरण-युग में चिन्तन और विद्वता के स्तर पर जो कुछ
ठोस काम हुआ था—वैचारिक और कल्पनात्मक उद्यम द्वारा उस जातीय स्मृति से
जुड़ने की दिशा में—समसामयिक जीवन-प्रवाह को उस खोज से जोड़ने का जो संघर्ष
उस वक्त किया गया था,—उसके हमारे साहित्य के लिए, हमारी कविता के लिए
कुछ नतीजे निकले थे । और बाद में भी निकलने चाहिए थे । क्यों नहीं निकले ? क्या
हमने तब अपनी काव्य-परम्परा के प्रति यथोचित दृष्टि अर्जित कर ली थी जो आगे
के कवियों के भी काम की होती ? क्या वह दृष्टि अर्जित करने का संघर्ष उसी
पुनरुत्थान युग के साथ समाप्त हो गया ? ठीक उसी तरह, जिस तरह कि उस समय
का कुछ ठोस सामाजिक-आर्थिक चिन्तन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही खिसक गया ?
आज जातीय स्मृति की बात उठाते हुए हम इतने असहज और संकुचित क्यों अनुभव
करते हैं ?

या फिर क्या वास्तविकता यह है कि उस युग में वास्तविक मौलिक दूरगामी
चिन्तन हुआ ही नहीं, केवल सुधारवादी आन्दोलनों की बाढ़ रही, जिसमें कि एक ओर
हमारी प्रज्ञा की प्राणशक्ति को और दूसरी ओर हमारे लेखकों-बुद्धिजीवियों को बहुत
भीतर तक उद्वेलित और प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी ?

जो भी हो, इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि छायावादी काव्या-न्दोलन ने जहाँ एक ओर कवि की निजी वैयक्तिक स्मृति को उत्तेजित किया, वहीं दूसरी ओर उसमें इस वैयक्तिक स्मृति की नवजात सक्रियता के साथ-साथ जातीय-स्मृति का भी सहज उद्रेक हो सका था और उस युग की कविता को नए रूपाकार दे सका था। उसके पहले भी जातीय स्मृति सक्रिय थी, पर वह आत्मोद्बोधन वाली थी, सहज आत्मविश्वाससम्पन्न और कलात्मक दृष्टि से सम्पन्न नहीं थी। समकालीन लेखन तक आते-आते यह प्रवाह एक बार फिर सूख चला है। अपनी आत्मस्थितियों को परिभाषित करने में जातीय स्मृति जिस प्रकार इन कवियों को प्रेरणा देती थी, उस प्रकार इस दौर के कवियों को नहीं देती। सवाल यह नहीं है कि उस परम्परा से अपनी रचना का तालमेल कैसे बिठाएँ; न यही कि पुराने प्रतीकों, मिथकों को कैसे अपनी कविता में ज्यादा-से-ज्यादा भुना डालें। वह तो नयी कविता ने भी धड़ल्ले से किया। सवाल वह नहीं है। सवाल है अपनी अस्मिता (आइडेण्टिटी) की खोज का, परम्परा के साथ वास्तविक संघर्ष और वास्तविक आत्मीयता के रिश्ते में ढलने का। अपनी चेतना के भूगोल के व्यक्तिगत सर्वेक्षण का। यह सच है कि जातीय स्मृति की टकराहट में अपने अस्तित्व की उलझनों की परिभाषा और समाधान पाने का संघर्ष हम जिस गहरे लगाव के स्तर पर प्रसाद और निराला में देखते हैं, वैसा हम बाद के कवियों में नहीं देखते। अतीत मात्र का गौरव लेने का दृष्टिकोण उनका नहीं था। उसके सबसे वास्तविक और रचना-संभव केन्द्र से अपनी संवेदना को सम्पृक्त रखने की चिन्ता जरूर उनकी खास अपनी चिन्ता थी। यदि वह आज हमारी मदद करती नहीं जान पड़ती तो क्या इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हीं के मत्थे मढ़ी जा सकती है? यह ठीक है कि जितना जो कुछ वे मानकर चल सकने थे, उतना मानकर चल सकने की सुविधा हमें नहीं है। हमारी परिस्थिति अधिक जटिल है (हर युग में कवि को अपना युग ही सबसे जटिल प्रतीत होता है, स्वाभाविक है)। पर इसी का क्या भरोसा है, क्या प्रमाण है, कि जो कुछ हम मानकर चल रहे हैं, वही सही है? प्रश्न यह है कि हमीं ने अपनी मान्यताओं को कहाँ तक खुद कमाया है?

कुँवरनारायण ने 'आत्मजयी' की भूमिका में लिखा है कि भारतीय पुराकथाओं से भारतीय कवि उतना लाभ नहीं उठा सकता जितना कि यूनानी पुराकथाओं से यूरोपीय कवि उठा लेता है। कारण वे यह बताते हैं कि हमारी पुराकथाएँ अनिवार्यतः धार्मिक हैं अतः उनका धर्मनिरपेक्ष शुद्ध कला की दृष्टि से उपयोग करना बड़ी भारी समस्या है। यह मुश्किल प्रसाद और निराला के सामने भी पेश हुई ही होगी। उन्होंने कैसे इसका हल निकाला, यह क्या हमारे लिए बिलकुल भी विचारणीय नहीं हो सकता? अगर हम उस हल से असन्तुष्ट हैं (असन्तुष्ट तो स्वयं कुँवरनारायण के 'आत्मजयी' हल से भी हैं, इसका क्या?) तो दूसरा हल खोजें। समस्या के नाम पर समस्या को इस तरह टाला तो नहीं जा सकता। मुक्तिबोध के शब्दों में "उत्तर के सिंहासन पर प्रश्न को तो नहीं बिठाया जा सकता।" स्वयं मुक्तिबोध ने क्या अपनी कविता के लिए इस समस्या का हल नहीं निकाला?

१

विश्वविद्यालयों का कवि

फ़तवे—और ख़ासतौर से साहित्यकारों द्वारा दिये गए फ़तवे तो—कभ
बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं, चाहे वे नितान्त गम्भीर भाव से दि
हों चाहे निहायत, महज़ छेड़खानी की गरज़ से। अब यों तो प्रसादजी भी लिख
(यथार्थवाद) "लघुता पर एक 'साहित्यिक' दृष्टिपात" ही है : कौन कह सक
कि उनका इरादा मखौल उड़ाने का था ? वे तो बेचारे अपने जाने एक सटीक व
और परिभाषा ही दे रहे थे। आज अगर किसी को यह लगे कि वे बड़ी सफ़
बड़ी बारीक चुटकी काट गए तो इसमें प्रसादजी का क्या दोष !···अपनी-अ
समझ है। श्रीकान्त वर्मा की समझ में छायावादी कविता शब्दों के खिलवाड़ के
रिक्त कुछ नहीं है। ठीक है, आप भी उनसे प्रतिप्रश्न कर सकते हैं कि साहब ! क
मात्र इसके अलावा और क्या होती है ? या कि खुद आपको ही कविता क्या
मगर इससे क्या उनका फ़तवा कट जायगा ? इतना तो वे भी जानते ही हैं। त
एक फ़तवा वह होता है जो जानते-बूझते, पूरे होशोहवास में दिया जाता है।
पारदर्शी फतवा होता है और कोई आड़ नहीं देता। उसमें आपकी समझ के लिए
करने की पूरी गुंजाइश होती है। समझ को सम्बोधित करने का यह भी एक ख
तरीका है; उसे दुरुस्त करने का भी, हालांकि चिन्ता वहां समझाने की उतनी
है, जितनी कि समझे जाने की। कवियों के बारे में कवियों द्वारा दिये गए फ़
ज़्यादातर इसी कोटि के हुआ करते हैं। किन्तु एक दूसरे प्रकार का फतवा भी हो
है जो हमारी समझ को उकसाने के लिए नहीं, बल्कि उसे बहकाकर उस पर हा
होने के लिए दिया जाता है। वह ठोस और अपारदर्शी होता है ताकि आप उसमें निहि
'समझ' (या समझहीनता) को न देख पाएँ।

चूंकि "प्रसाद विश्वविद्यालयों के कवि हैं", यह फतवा एक कवि की ओर

ही आया है, अतः इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि उक्त दूसरी कोटि का तो यह नहीं ही होगा। या फिर यह एक और तीसरी ही कोटि का फतवा होगा जिसके लक्षणों का पता अभी हमें नहीं है। हालांकि हमें याद पड़ता है कि कुछ-कुछ इसी प्रकार की बात टी० एस० एलियट ने भी मैथ्यू आर्नाल्ड की कविता के बारे में कही थी, "ही इज एन एकेडेमिक पोएट इन द बेस्ट सेन्स ग्राव द टर्म।" इसे कहते हैं—"डैम विद फेण्ट प्रेज..."; मगर दूसरी ओर हम पाते हैं कि प्रसादजी को तो यह 'फेण्ट प्रेज' भी नसीब नहीं है। मैथ्यू आर्नाल्ड के साथ कम-से-कम इतनी तो गनीमत है कि आधुनिक काव्य के लक्षणों की शुरुआत उसमें देख ली जाती है अतीत मोह और क्लैसिक रुझान के साथ-साथ थोड़ी बहुत सार्थक आधुनिकता (समसामयिक भाव-बोध) भी उसे बख्शी गई है। मगर प्रसादजी को तो वह सांत्वना भी नहीं है। उनमें आधुनिकता कैसे ढूँढी जाए ? हाँ, एक मुक्तिबोध को जरूर, जाने कैसे यह इलहाम हो गया कि समस्त छायावादियों में प्रसाद ही एक ऐसे कवि हैं जो अपने बाद की पीढ़ी को चुनौती-सी देते हैं और उनसे निपटे बिना चलेगा नहीं; वर्ना हमारी पीढ़ी के लिए तो वे हुए-न-हुए एक जैसे ही हैं।

तो क्या प्रसाद सचमुच इतने अल्पप्राण और अप्रासंगिक कवि हैं कि विश्वविद्यालयों की सुरक्षित चारदीवारी के बाहर जिन्दा न रह सकें ? क्या उनकी सार्थकता सिर्फ इतनी ही है कि उन्होंने कुछ प्राध्यापकों को बौद्धिक व्यायाम का अवसर सुलभ कराया और भाष्यकारों की एक भीड़ अपने आस-पास बटोर ली ? क्या उनका दीर्घायु होना 'कठिन काव्य के प्रेत' की हैसियत से ही सम्भव है ?

मुझे नहीं मालूम कि विश्वविद्यालयों में प्रसाद को वास्तव में कठिन काव्य के प्रेत की तरह पढ़ाया जाता है या नहीं; किन्तु इतना जरूर जानता हूँ कि विद्यार्थियों के बीच निराला, पन्त और महादेवी के प्रति जितना उत्साह दीखता है उसका दशमांश भी प्रसाद की रचनाओं के प्रति नहीं दीखता। विद्यार्थियों में ही क्यों, कविता से जिन्हें कुछ भी लेना-देना है, ऐसे अपेक्षाकृत सयाने लोगों के बीच भी मुश्किल से कभी कोई ऐसा मिल जाता है जिसे सचमुच प्रसाद का चस्का हो। 'विश्वविद्यालयों का कवि' —अगर इस फ़तवे में व्यंग्य हो तो वह व्यंग्य भी ऐसा है जिस पर हँसा भी नहीं जा सकता क्योंकि अपने तमाम समकालीनों में प्रसाद ही ऐसा कवि है जिसके बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उसको समझने की शुरुआत ही विश्वविद्यालय से निकलने के बाद होती है क्योंकि मुझे तो यह विशेषता ही प्रतीत होती है कि जहाँ दूसरे कई कवियों के साथ मर्मग्रहण करने की सजगता बढ़ने के साथ-साथ कविता का आस्वाद और मूल्य भी कम होता जाता है वहाँ प्रसाद में ठीक इसके विपरीत मामला है। एक तरह से प्रसाद की कविता का आस्वादन कविता के पाठक की रीझ-बूझ की कसौटी बन जाता है। दूसरे कवि हैं जिनकी कविता हमें बहुत प्रीतिकर जान पड़ती है लेकिन तभी तक, जब तक कि हम कविता के भीतर गहरे पैठने का उद्यम नहीं करते, बहुत ज्यादा शिक्षित संवेदन और प्रश्नाकुल जिज्ञासा लेकर उनका सामना नहीं करते। होता यह है कि मर्मान्वेषण की सजगता बढ़ने के साथ-साथ उनकी कविता की महिमा

भी हमारे मन में घटने लग जाती है। पन्तजी की अनेक कविताओं का प्रभाव मेरे लिए इसी तरह क्षीण होता चला गया है। जबकि इसके ठीक विपरीत आज से दस साल पहले प्रसाद की जो कविताएँ मेरे मन पर कोई छाप ही नहीं छोड़ती थीं—वे ही आज मुझे सबसे ज्यादा विशिष्ट और सारपूर्ण लगती हैं। शायद ऐसा इसी कारण सम्भव हो सका है कि अब जाकर मैं उस मानसिक स्तर से किसी क़दर सहानुभूति स्थापित कर सकने योग्य हो सका हूँ कि जहाँ पर, जहाँ से इन कविताओं का उद्भव हुआ है।

यहाँ पर प्रसाद की छोटी कविताओं का उल्लेख ही अभीष्ट है क्योंकि एक तो उनका महत्त्व अपने-आपमें भी कम नहीं है, बल्कि ज्यादा ही है, इस दृष्टि से कि जो उनके वैशिष्ट्य को नहीं समझ सकता, वह 'कामायनी' के साथ भी न्याय नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा की बनावट को समझने के लिए ये कविताएँ बुनियादी महत्त्व की हैं। *यह ठीक है कि प्रसाद उन थोड़े-से कवियों में हैं जो गीति और स्फीति दोनों* को समान गरिमा के साथ निवाह सकते हैं किन्तु इसके साथ एक दूसरा तथ्य यह भी है कि वे ऐसे कवि (भी) हैं जिनके रचना-क्रम में शुरू से आखिर तक एक खास किस्म की एकता, एक बुनियादी पर्युत्सुकता का 'पैटर्न' दिखाई देता है, मानो सृष्टि और अस्तित्व की मूलभूत चुनौतियों से निपटने के लिए, उनको अपनी जीवनानुभूति *और वेदनातन्त्र द्वारा सिद्ध और हल करने के लिए ही इन्हें कवित्व दिया गया हो :* मानों इनकी कविता और इनकी यह पर्युत्सुकता सहजात हो, परस्पराश्रित हों। ऐसे कवियों के साथ दिक्कत यह आ जाती है कि उन्हें पूरा पढ़ना पड़ता है; उनके विकास के प्रत्येक चरण को ध्यानपूर्वक समझना पड़ता है। इस दृष्टि से भी इन कविताओं का अध्ययन बहुत आवश्यक है। *यह भी है कि शायद इन पर ध्यान एकाग्र करके ही* हम 'कामायनी' के लिए अपेक्षित स्फूर्ति इकट्ठा कर सकते हैं और उस पर जमी हुई काई छुड़ा सकते हैं।

●

ऊपर संकेत किया गया है कि प्रसाद अपने अन्य सहवर्तियों की तरह प्रथम साक्षात् में ही आकर्षित करने वाले कवि नहीं हैं। हिन्दी में लिखने वाले ऐसे अनेक कवि होंगे जिन्होंने अपने विकास के प्रारम्भिक सोपानों पर पन्त और निराला से प्रेरणा पायी होगी। किन्तु विरला ही कोई कवि होगा जिसे प्रसाद उस दौर में आकर्षित कर सके हों। कारण, प्रसाद में ऐसा बहुत कम, नहीवत् है जो *किशोर कल्पना को उत्तेजित* कर सके, किशोर और युवा भावनाओं को स्फूर्ति दे सके। वे थिराये हुए आवेग के, हृदय की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं

> कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
> लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में
> किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
> उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है

प्रसाद उन कवियों में हैं जो अपेक्षाकृत जल्दी वयस्क हो जाते हैं। प्रकारा

परिपक्व नहीं; बल्कि वयस्क जिज्ञासाओं से उन्मथित। ऐसे कवि जल्द ही अपनी भावनाओं को जीवन-जगत् के प्रति एक दृष्टि अर्जित करने के अनिवार्य संघर्ष में नियोजित करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। एकदम शुरू की कविताओं में ही :

भरा जी तुमको पाकर भी न,
हो गया छिछले जल का मीन
विश्व भर का विश्वास अपार,
सिन्धु-सा तैर गया उस पार
न हो मुझको ही जब सन्तोष
तुम्हारा इसमें क्या है दोष
... ...

क्या अपूर्ण रह जाती भाषा, भाव भी ?
यथातथ्य प्रकटित हो सकते हो नहीं
अहो अनिर्वचनीय भाव-सागर सुनो,
मेरी भी स्वर-लहरी क्या है कह रही
... ...

और वस्तु से जब तक कुछ फिटकार ही,
मिलता नहीं हृदय को, तेरी ओर वह
तब तक जाने को प्रस्तुत होता नहीं
... ...

इसीलिए यह कवि अपने मानसिक संघर्ष को, भावनाओं के झंझावात को सीधे अभिव्यक्ति देने को प्रेरित नहीं होता; बल्कि उसे अनवरत चिन्तन-मंथन में से गुजरकर ही अपनी कविता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व का सीधा प्रकाशन उसे 'भोंडा' लगता है। प्रकृति पर अपने भाव-सवेगों को थोपकर उनसे मुक्त होने की चेष्टा के बजाय वह प्रकृति को पढ़ते हुए उसके जरिए अपने अन्तर्जगत् को व्यवस्थित और अनुशासित करने का धैर्यपूर्ण उद्यम करता है :

आज इस घन की अँधियारी में
कौन तमाल झूमता है, इस सजी सुमन-क्यारी में
... ...

किन्तु न मेरी करो परीक्षा प्राणधन !
होड़ लगाओ नहीं, न दो उत्तेजना।
चलने दो मलयानिल की शुचि चाल से,
हृदय हमारा नहीं हिलाने योग्य है
चन्द्रकिरण हिमबिन्दु, मधुर मकरन्द से
बनी सुधा रख दी है हीरक पात्र में,
मत छलकाओ इसे, प्रेम-परिपूर्ण है।

और अनुभव का यह दूसरा पक्ष

तुम्हारी मधुमाला मिलाप, पहुँच से बाहर, न देनी दीन
सींचकर बेला फल पाया, फूल भी हाथ न आया
मौन नीरवमाला की दृष्टि
वीणा को करती थी सृष्टि

र, दूसरी ओर यह प्रशान्त, धीर [illegible]

सृष्टि में सब-कुछ है अभिराम,
सभी में है उन्नति या ह्रास
बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक देखो तब यह सौन्दर्य

:, इससे भी गहरे

गन्ध सौरभ वायुमण्डल की तहें
अन्तरिक्ष विशाल में हैं मिल रहीं

स्वाभाविक ही, इस प्रकार कवि-मन के भावावेग ज्ञानात्मक अनुभूति में ढलते ले जाते हैं। बाह्य विश्व, ऐन्द्रिय संवेदना का जगत् कवि-कल्पना के लिए कलात्मक न्यास के उपकरण जुटाने के बजाय उसे एकाग्र संवेदन और अर्थान्वेषण की प्रेरणा ता है। प्रसाद में प्रारम्भ से यह रुझान स्पष्ट है : अपनी ही अनुभूतियों और भाव-विगों के अध्ययन-मनन की प्रवृत्ति···।

बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
···   ···
स्मरण हो रहा शैल का कटना
कल्पनातीत काल की घटना

जोकि आगे जाकर ऐसी प्रौढ़-परिपक्व, सश्लिष्ट व्यंजनापूर्ण काव्य-पंक्तियों का सृजन करती है···

चढ़कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड़ लगाई

ये पंक्तियाँ मुझे बरबस प्रख्यात मैटाफिज़िकल कवि एण्ड्रू मार्वेल का स्मरण करा देती हैं—

"बट हार्क अपॉन माइ बल्स आइ हियर
टाइम्स ह्वीलिंग चैरियट ड्राइंग नियर
···   ···"

प्रसाद की बौद्धिकता कोई अलग ऊपर से थोपा हुआ मूल्य नहीं है; वह उनकी जिजीविषा की अनिवार्य उपज है : उनके अन्तर्जीवन की अनिवार्य लय और दिशा···।

अपनी अनुभूतियों के प्रति उनकी काव्यात्मक प्रतिक्रिया सर्वथा उनकी अपनी है, सर्वथा मौलिक और अनूठी। यह कहना कि शुरू से ही उन पर किसी विचार-दर्शन का अंकुश था, निहायत गलत होगा। उन पर किसी का अंकुश नहीं था · यदि अंकुश था भी तो, वह उन्होंने स्वेच्छा से परिश्रमपूर्वक अर्जित किया था। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया, उनकी आरम्भिक कविताओं में ही अपनी निजी अनुभूतियों के प्रति एक ऐसी गहरी ईमानदारी और आलोचनात्मक निरीक्षणशीलता मिलती है जैसी कि विरले ही कवियों में पाई जाती है · "जब लेता हूँ, आभारी हो, वल्लरियों से दान/कलियों की माला बन जाती अलियों का हो गान/विकलता बढ़ती हिमकन में, विश्वपति ! तेरे आँगन में/जब करता हूँ कभी प्रार्थना, कर संकलित विचार/तभी कामना के नूपुर की हो जाती झनकार/चमत्कृत होता हूँ मन में/विश्व के नीरव-निर्जन में/···

अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा नाना प्रकार से अलंकृत करने—जितनी जैसी वह है, उससे बड़ी दिखाने, अतिरंजित करने की बजाय—वे उसे समझने-बूझने की कोशिश करते हैं। इसी से उनकी अभिव्यक्ति में एक सहज गरिमा है, ताव औं तीव्रता नहीं। और कौन कह सकता है कि इस कविता में सौन्दर्य नहीं ? ···

मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थीं सो रहीं,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में
नील गगन-सा शान्त हृदय था हो रहा,
बाह्य आन्तरिक प्रकृति सभी सोती रही

प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं . उनके यहाँ हर चीज प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है। प्रसाद देखा जाय, तो पन्त के ठीक विपरीत हैं। पन्त में अर्थ (भाव-कथ्य) अधिकतर सामान्य मनोभूमि का होता है : उसको वे कल्पना (और फैंसी) से, इच्छित चिन्तन और शब्द-शिल्प में फैला लेते हैं। प्रसाद अपने बोध में छने हुए अर्थ को शब्द के जरिए और भी ज्यादा छानकर गाढ़ा कर लेते हैं। पन्त में शब्द ही वस्तुएँ हैं, प्रसाद में शब्द केवल इंगित हैं···उन्हें शब्दों के रूपरंग में ज्यादा दिलचस्पी नहीं। यदि पन्त की कविता में शब्द ठोस हैं अपेक्षाकृत, तो निराला में वे अधिक द्रवित हैं और प्रसाद में सीधे उद्वाष्पित। कोई आश्चर्य नहीं, यदि हम पाएँ कि लगभग एक-जैसी विषय-वस्तु को लेकर कविता करते हुए पन्त सबसे ज्यादा शब्दों का प्रयोग करते हैं; निराला उनसे कम; और प्रसाद सबसे कम। पन्त में शब्द अलग-अलग पच्चीकारी के टुकड़ों से दीखते हैं; निराला में रिलमिले बहते-से···; प्रसाद में वे अलोप-से हो जाते हैं···। एक-एक शब्द को आँखें फाड़-फाड़कर देखना होता है। पूरे 'पाठ' को तीन-तीन, चार-चार बार पढ़ना होता है। तब जाकर उस शब्द की सही जगह का अन्दाज लगता है। शरीर में वह जहाँ रखा होता है, वहाँ वह होता ही नहीं—कहीं और···कहीं और

मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल
तू हँस जीवन की सुघराई
हँस ले भय, शोक, प्रेम या रण
हँस ले काला पट ओढ़ मरण
हँस ले जीवन के लघु-लघु क्षण
नाविक अतीत को उतराई

प्रसाद के यहाँ कुछ शब्द रूढ़ पदों की तरह बार-बार दुहराए जाते हैं मानो उनके बिना उनका काम ही न चलता हो। मजे की बात यह है कि ये उतने और उस तरह खलते नहीं जैसे कि किसी दूसरे कवि में खलते। वस्तुतः ये 'रूढ़ पद' भी दूसरे कवियों द्वारा प्रयुक्त 'रूढ़ पदों' की अपेक्षा कहीं अधिक सार्थक और जानदार प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रसाद 'मधु' या 'माया' से जितना काम ले लेते हैं, उतना पन्तजी 'स्वर्ण' को उनसे कई गुना ज्यादा पुकारकर भी नहीं ले पाते। विशेषण उनके यहाँ कम हैं : वे उन पर बहुत कम निर्भर करते हैं। उनका एक खास अपना लहजा है : खास अपनी 'लय' जो अपने नितान्त औचित्य के बल पर हमारे मन को पकड़ती है।

वे अनेक भावों की सजावट नहीं दिखाते; न किसी आवेश में बह जाते हैं। *वे भाव को अर्जित करते हैं गहन चिन्तन-मन्थन द्वारा; और उसे फिर शब्दों द्वारा* आकर्षित करते हैं। उनसे ज्यादा अन्तर्मुख शायद ही कोई दूसरा कवि होगा। कविता उनके लिए आत्माभिव्यक्ति से ज्यादा अपने आत्मशोध-आत्मपरिष्कार को जाँचते-समझते रहने की प्रक्रिया है। वह प्रथमतः उनके अपने लिए है। उसमें बहुत ताव या उबाल नहीं है;—केवल निथरा हुआ तत्व है : संवेदनात्मक अनुभूति और भावात्मक चेतना दोनों के दीर्घकालिक संपीड़न से निचुड़ा हुआ सार-तत्व। उनका अनुभव-संवेदन जब तक शोधित-परिशोधित होते-होते एक स्थायी भाव या, विचार का गौरव प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक शायद उन्हें अभिव्यक्ति का कोई उत्साह ही अनुभव नहीं होता। और जब वे उसे अभिव्यक्त कर रहे होते हैं तब भी मानो वे अपने को ही सम्बोधित करते होते हैं; इसलिए कि उनके संवेदनशील मन और मर्मान्वेषिणी चेतना के बीच जो द्वंद्व रहा है, *उसका पर्यवसान पूरी तरह उस कविता में हुआ है या नहीं,* यह शंका उन्हें बेचैन किए रहती है। इसलिए वे विचार-संवेदन के उस संश्लिष्ट स्वरूप को अपनी बुद्धि और संकल्प की पूरी एकाग्रता के साथ अपने सामने मूर्त करना चाहते हैं।

नहीं; प्रसाद रहस्यवादी कवि नहीं हैं। वे प्रथम और अन्तिम रूप से बौद्धिक कवि हैं। अनुभूति की बौद्धिक प्रतीक व्यवस्था के, अनुभूति और बुद्धि के रागात्मक सन्तुलन के कवि हैं।

अरे आ गई है भूली-सी, यह मधुऋतु दो दिन को
छोटी-सी कुटिया में रच दूँ, नई व्यथा-साथिन को
मेरे किसलय का लघु भव यह
आह खलेगा किनको ?

प्रसाद की दुरूहता भाषा की नहीं, भाव की है। उस एक भाव तक (जो कि अनेक भावनाओं, संवेदनाओं और विचारों का रसायन होता है) पहुँचने की प्रक्रिया उनकी कविता में उजागर नहीं होती। स्थूल अर्थ में जिसे आत्माभिव्यक्ति कहा जाता है, वह उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान, संवेदन और आवेग जब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के दौर से गुजरकर चिन्तन-मनन द्वारा अपनी चंचलता खोकर थिर हो जाते हैं···तभी वे लिखने बैठते हैं। निष्कर्ष वे नहीं देते; निरावेग ढंग से, किन्तु प्राण की समूची ललक के साथ, भावना के पूरे सौकुमार्य में शब्द को दे दिए जाते हैं—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ
इसमें क्या है धरा, सुनो
मानस-जलधि रहे चिर-चुम्बित
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

इस प्रकार धीरज और कवि-कर्म के साथ गहन अन्तरात्मिक सम्पृक्ति का ही परिणाम है कि ऐसी विलक्षण और दिमाग में घुमड़ती पंक्तियाँ रची जा सकीं

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में

'ले चल मुझे भुलावा देकर' पलायन की आकांक्षा से प्रेरित नहीं है। यह प्रसाद के कवि की स्वाभाविक और वाजिब माँग है। "जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया/ढीली अपनी कोमल काया, नील नयन से ढुलकाती हो/ताराओं की पाँत घनी रे/जिस गम्भीर मधुर छाया में/विश्व चित्रपट चल माया में/विभुता विभु-सी पड़े दिखाई/दुख-सुख वाली सत्य बनी रे/···" यह कोलाहल की अवनी से घबराने वाले दुर्बल-प्राण कवि का गीत नहीं है। प्रसाद दिन के कवि नहीं हैं : वे 'श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला' के कवि हैं। इसलिए नहीं कि वे दिन का सामना नहीं कर सकते, बल्कि इसलिए कि उन्हें अपनी कविता वहीं पर मिलती है। कवि के रूप में उनकी खोज उसी 'गम्भीर मधुर छाया' की है जिसमें 'विश्व-चित्रपट चल माया' में 'दुख-सुख वाली विभुता', 'विभु-सी दिखाई पड़े। एक-एक शब्द पर ध्यान दीजिए : कवि कितनी गहरी बात कह रहा है ! 'नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँत घनी रे'······यह किस अन्तर्लोक निर्दिष्ट का दिग्द है ? लोक व्यवहार के रूप नहीं है। यह कोई निरपेक्ष स्वप्न-लोक नहीं है। न यह अतिवृत्ति है। यह जीवन की प्रगाढ़ सम्पूर्ण अनुभावना है जहाँ साक्षात्कार सम्भव हो सके। वहाँ प्रकाश होता; पर ऐसा प्रकाश जिसके सम्पूर्ण नहीं, उसका साक्षात्-सा भजन जाय······। जीवन की करुणा का जो सम्पूर्ण अनुभव कवि के

अर्जित किया है, उसी का सघन अन्तरावलोकन उसे अभीष्ट है।

सन्ध्या और रात्रि के चित्र ही प्रसाद में सबसे ज्यादा हैं। और हाँ 'उ
इसी कविता की अन्तिम पंक्तियाँ देखिए—

> श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से—जहाँ सृजन करते मेला से
> अमर जागरण उषा-नयन से, बिखराती हो ज्योति घनी रे

···ताराओं की पाँति भी 'घनी' थी और यह ज्योति भी 'घनी' है। स
जीवन छाया के नील-नयन में डूबते हुए जीवन का राशिभूत संवेदन ही च
परिव्याप्त अन्धकार की थाह लेता हुआ उसके भीतर, उसकी निविड़ सम्पृक्ति
पुन. सृजित होकर, अमर जागरण की ज्योति बनकर उषा नयन से (बाह
विकीर्ण होता है। यह 'घनी ज्योति' सृजन की (पूर्ण में से पूर्ण के सृजन की) है
से यह 'अमर जागरण' है।

आपने देखा होगा कि 'उषा' के अंकन में जो औदात्य प्रसाद में है, वह
दुर्लभ है।

●

प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग—प्रसाद जिस संस्कृति के
हैं—उस संस्कृति की सन्ध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय-सांस्
इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है। निश्चय ही प्रस
अतीत का गौरव-गान किया है किन्तु वे उस तरह अतीतजीवी नहीं थे। अतीत
कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह
वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत
तरह स्पन्दित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों
अतीत से तादात्म्य की—अतीत के माध्यम से आत्म-स्थितियों के साक्षात्कार की
क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।

वे पलायन के कवि नहीं हैं। देखने की बात है कि उनका नाविक भी
भुलावा देकर आखिर ले किस ओर को आता है?···वहीं न, जहाँ "अमर जाग
उषा नयन से बिखराती हो ज्योति घनी रे"? क्या यहाँ भी भ्रम की गुंजाइश है

और यह नाविक कौन है?···स्वयं काल? स्वयं कवि का इतिहास-बोध भी
शायद! ऊपर प्रसादजी की एक बहुत निजी छाप वाली कविता उद्धृत की गई थ
"ओ री मानस की गहराई···। नाविक अतीत की उतराई।···" अब यहाँ पर
थोड़ा ग़ौर से देख लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत कवि-मानस की गहराई को अतीत रूपी नाविक ही जान सकता
वर्तमान को—कितने ही लघु क्षणों की नौकाओं को वह खेता है। प्रतिदान इतना ही
हम उन्हें—एक-एक क्षण के 'गुण' को—पूरे मन से जी सकें। कोई भी अनुभूति हम
संवेदना के समूचे प्रसार में से तभी उत्तीर्ण हो सकती है जब हम नाविक अतीत
उसकी उतराई दे सकें, क्योंकि वही हमें उतारता है। क्योंकि वह नाविक हमसे—
हमारे व्यक्तिगत मन से—बड़ा है; क्योंकि वह पूरी जाति के अनुभवों का राशी

व्यक्तित्व है। एक गहरे अर्थ में वह हमारा 'इतिहास-बोध' है। हमारे व्यक्ति-मानस की गहराई को वह जानता है, जिसमे से कि सारी जीवनानुभूतियां उत्तीर्ण होना चाहती हैं। यह 'गहराई' भी स्वयं क्या है, किसकी है?······"तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित न रहे ज्यों पिए गरल···।" यह तरलता कोई भावुक, रूमानी तरलता नहीं है···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में।

यह 'नील विषाद गगन' ही वह 'नील नयन' है जो 'ताराओं की पांति' ढुलकाता है।

अतीत हमारे व्यक्तिगत जीवन का भी होता है जो पल-पल हमारे वर्तमान को प्रभावित करता है और उससे प्रतिकृत भी होता है। यह अतीत तो स्वयं-सिद्ध, स्वयं-स्फूर्त सत्ता है जो हमारे सहयोग के बिना भी अपना काम जारी रखता है। हाँ, खुली संवेदना होनी चाहिए वर्तमान 'क्षण' की अनुभूति के प्रति; तभी अतीत भी उसे हमारी सम्पूर्णता मे रचा सकता है; हमारे 'ज्ञान' का अंग बना सकता है। प्रसाद की कविता का 'नायिक' महज प्रसाद के कवि का व्यक्तिगत अतीत ही नहीं है; वह एक प्रकार से समूची जाति का अतीत है; संस्कृति है; सामूहिक अवचेतना भी आप चाहें तो उसे कह सकते हैं। वही हमारे क्षणिक अस्तित्व को सनातन काल मे से उत्तीर्ण करता है।

व्यक्तिगत विषाद का मोक्ष विश्व-वेदना की प्रगाढ अनुभूति (करुणा) में; और उस अनुभूति को अपनी सास्कृतिक चेतना एवं इतिहास-बोध के द्वारा सर्जनात्मक सार्थकता एवं संतुलन देने की प्रेरणा···यह है कवि के रूप मे प्रसाद की आकांक्षा—महत्त्वाकांक्षा भी, आप चाहें तो कह लें उसे।

हो सकता है प्रसाद की कविता अपने उद्गम में, मूल प्रेरणाओं में अत्यन्त व्यक्तिगत हो जैसी कि किसी भी कवि की कविता हो सकती है, होती ही है। हो सकता है कि व्यक्तिगत वैफल्य और विषाद के कटु अनुभवों ने भी उन्हें कवि बनाया हो; किन्तु उनकी कविता में ये प्रेरक मूल 'हृत्कंपन' की तरह अन्तर्धान हो जाते हैं, जो कि चुपचाप रच-पच गए हैं;···विचारों, भाव-तरंगों मे डलकर अपने-आपको भूल गए हैं। ऐसा लगता है जैसे प्रसाद अपनी अनुभूतियों को सीधे 'बुद्धि' और 'आत्मा' में परिणत करने के लिए ही कविता करते हैं; उन्हें अपना शरीर नहीं बनाने देते। शरीर में तो हृत्कंपन तब भी अधिक स्थूलता के साथ रहता है; मन और मस्तिष्क तक पहुँचते-पहुँचते तो उसकी गति बहुत ही सूक्ष्म-विरल हो जाती होगी। ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि प्रसाद में किसी भी अन्य कवि, मसलन निराला की ही, अपेक्षा संवेदन-क्षमता कम थी। एकमात्र और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्रसाद की कविता में वह संवेदन अधिक लम्बा पथ पार करके, अधिक जटिल स्तरों से छनकर सक्रमित होता है और इसीलिए स्वभावतः उस तक पहुँचने के लिए हमें शायद परिश्रम भी ज्यादा करना पड़ता है। कवि के लिए जो स्वाभाविक है, वही हमारे लिए श्रमसाध्य और दीर्घागम्य भी हो जा सकता है।

प्रसाद को रागात्मक ऐश्वर्य का कवि कहने के बजाय विराम के ऐश्वर्य क
कवि कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। रागात्मक ऐश्वर्य की बात ही की जाय, त
यह उनके कथा-साहित्य में अधिक है। कविता में वे अधिक निर्लिप्त, अधिक आत्मस्थ हैं
ऊपर कहा गया कि व्यक्तिगत अनुभव-क्षण की तात्कालिक त्वरा और तीव्रता उस तरह
उनकी कविता में नहीं मिलती। यह भी कहा गया कि उनमें अनुभूति अपना शरीर न
रचकर सीधे-सीधे अपना मस्तिष्क, अपनी 'आत्मा' रचती जान पड़ती है। इसका आशय
यह, कि उनकी कविताओं में मांसलता नहीं है। इस बात को सही-सही समझने की
जरूरत है। यदि उनकी जीवन-चेतना पंतजी की तरह स्वप्निल और वायवीय होती
तो कहानी-उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती; न उनमें इतना रूप-रंग,
चरित्र और मानवीय वैविध्य सृजित होता। हमें स्मरण रखना होगा कि हिन्दी कहानी में
यथार्थवाद की नींव उन्होंने ही डाली थी। ठेठ यथार्थवादी कहानियों की तो बात ही
क्या, 'ममता' और 'आकाशदीप' जैसी भावोच्छ्वसित कहानियों का भी थोड़ा-सा
विश्लेषण यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी होगा कि उनकी भी बुनियाद ठोस मनोवैज्ञा-
निक यथार्थ पर रखी गई है। इसीलिए भाषा की एक अभिजात दूरी के बावजूद,
रुचि-सम्बन्धी सारी कठिनाइयों के रहते भी उनका प्रभाव हम पर पड़ता है और
हमारा मन एकाएक यह मानने को तैयार नहीं होता कि ये रचनाएँ नश्वर भी सिद्ध
हो सकती हैं। नहीं, हम यही सोचने को विवश होते हैं कि यदि प्रसाद की कविता
में वांछित मांसलता भी नहीं है, तो इसका कारण उनकी अक्षमता ही नहीं है। यह
भी तो हो सकता है कि वे कविता में अधिक सूक्ष्म उपकरणों से काम करना चाहते हैं
या कि कविता की उनकी धारणा ही यह है कि वह एक अत्यधिक सूक्ष्म उपकरण है
अनुभूति के यथार्थ को पचाने और आत्मसात् करने के लिए। इस प्रकार यहाँ उनका
उद्देश्य और आग्रह ही भिन्न हो जाता है। निराला और प्रसाद की कुछ पंक्तियाँ आमने-
सामने रखकर देखिए :

> कहाँ
> मेरा अधिवास कहाँ ?
> क्या कहा ? रुकती है गति जहाँ ?
> भला इस गति का शेष
> संभव है क्या ?
> करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता है आवेश ?

यह है निराला। अब ज़रा प्रसादजी पर कान लगाइए :

> निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता
> खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता

निश्चय ही निराला अधिक आत्मीय लगते हैं; क्योंकि उनका 'टोन' अधिक
नज़दीकी का, सहज-संलापी और मुक्त-मुखर-वैयक्तिक है। तुलना में प्रसाद का स्वर
[illegible] और 'वैयक्तिक' नहीं प्रतीत होता; एक पर्दा-सा उनके और हमारे बीच
उनका टोन, उनका लहजा अधिक निर्वैयक्तिक लगता है। फिर भी, कौन

कह सकता है कि प्रसाद कम मार्मिक हैं? निरालाजी का कथ्य उनकी पंक्तियों में प्रवाहित होता चलता है : उसमें गति है और उसे इसी रूप में हम देखते-अनुभव करते हैं। प्रसादजी में गति 'विधि' बन गई है। उनका कथ्य गति से आगे बढ़कर विधि में समाहित होता हुआ कविता में उतरता है।

एक बात और"'। प्रसादजी गहरे अर्थों में संस्कृति के कवि हैं। उनके शब्दों का संसार पावनता, सरलता और गरिमा के एक अद्भुत रासायनिक यौगिक से रचा हुआ जान पड़ता है। व्यक्तिगत वैकल्य और निराशा की तीव्र संवेदनाएँ उनके काव्य में अभिव्यक्त नहीं दीखतीं। "स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है" जैसे तीव्र-वेधक आत्माभिव्यक्तियाँ उनके यहाँ दुर्लभ हैं। फिर क्या कारण है कि उनकी कविता का अनुभव एक गहरे औदास्य का अनुभव भी होता है?

प्यार भरे श्यामल अम्बर में जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्यशिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भरकर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता?
वंचित रे! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम?

यह 'अतीत की विकल कल्पना' ही मानो कवि की कविता का प्रमुख उत्स है : अतीत का संमोह नहीं; 'अतीत की विकल कल्पना' [1] जो कि एक साथ नितान्त आत्मीय-वैयक्तिक भी है और सामूहिक-सांस्कृतिक भी। एक ओर 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में :

आह इस सेवा की!
कौन थामता है पतवार इस अन्धड़ में
अन्धकार-पारावार गहन नियति-सा
उमड़ रहा है ज्योति-रेखाहीन क्षुब्ध हो
खींच ले चला है काल-धीवर अनन्त में
साँस सफरी-सी अटकी है किसी आशा में

और दूसरी ओर,

सागर-लहरों-सा आलिंगन निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन, वह रहा एक कन को निहार
धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार
दल विरज डालियाँ भरी मुकुल, झुकतीं सौरभ-रस लिए अतुल
अपने विषाद-विष से मूर्च्छित, काँटों से बिंधकर बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार।
पागल रे! वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब
आँसू के कन से गिन-गिनकर, यह विश्व लिए है ऋण उधार
तू क्यों फिर उठता है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार।

अपने 'विषाद-विष से मूर्च्छित' मन को कवि ने किस प्रकार जगाया है, यह

देखिए; और तुलना कीजिए पहली कविता से "तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल, मूर्च्छित रहे ज्यों पिए गरल, सुखलहर उठा री सरल-सरल, तू हँस जीवन की सुघराई..." यह है इस कवि के आत्म-परिष्कार, आत्म-विकास की अनिवार्य दिशा और सूचना

०

अन्य छायावादी कवियों के बीच प्रसाद की स्थिति को समझने के लिए कु मसाला शायद ऊपर के विवेचन में इकट्ठा हो गया होगा। तथापि उस अन्तर औ वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने के लिए शायद इतना काफी नहीं है। बहरहाल प्रसाद क 'लहर' शीर्षक कविता को पढ़ने के दौरान मेरे दिमाग में दो कविताएँ आयी थीं: ए तो पंतजी का 'हिलोरों का गीत' और दूसरी निराला की 'तरंगों के प्रति'। तीनं कविताओं को साथ-साथ रखकर पढ़ने से मुझे लगा कि इस तुलना से हम कुछ और निकटता हासिल कर सकते हैं। तीनों का तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ पर शायद अप्रासंगिक न लगे। जरूरी होगा कि इस विश्लेषण से गुजरते हुए कविताएँ सामने हों। समूची उद्धृत करना तो संभव नहीं है : इतने सहयोग की अपेक्षा पाठक से की ही जानी चाहिए।

पंतजी की कविता में सौन्दर्य-संवेदन और अर्थ (कथ्य) की स्थिति एकाकार नहीं है। दूसरे शब्दों में हिलोरों का संवेदन कवि की अन्य जीवनानुभूतियों से—व्यापक जीवन की उसकी पहचान और संवेदना से—जुड़कर एकाकार नहीं होता। मुख्य प्रेरणा वहाँ एक दृश्य-सौन्दर्य से मुग्ध होने और उस मुग्ध भाव को शब्दबद्ध करने की है। वह सौन्दर्य आँखों से उतरकर हमारे अन्तर्जीवन को नहीं पकड़ता। "अपने ही सुख से चिरचंचल, हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल...।" एक दृश्य-संवेदन दूसरे समानान्तर दृश्य-संवेदन को उकसाता है और बिम्ब उत्पन्न करता है। 'खिल-खिल' में खिलखिलाहट भी है और फूलों की खिलावट भी। आगे दूसरी पंक्ति में इसको और स्पष्ट फैला दिया गया है "जीवन की लतिका में लहलह, विकसा इच्छा के नव-नव दल"। इसके तुरन्त बाद 'रास' का बिम्ब कवि की सूझ में आता है। "सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि/गृह-पुलिन नांघ, सुख से विह्वल/हम हुलस नृत्य करतीं हिलमिल /खस-खस पड़ता उर से अंचल/..." एक-एक ब्यौरा इकट्ठा करके चित्र को पूरा कर दिया गया है। पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि कवि को दृश्य-चित्रण ही अभीष्ट है : उसका स्वयं का व्यक्तित्व उस दृश्य-संवेदन से सम्पृक्त नहीं होता भीतर तक; वह अलग, असम्पृक्त एक दृष्टि-बिम्ब को रचने-सजाने, उसे पूरा उभारने में संलग्न है। उसकी अनुभूति प्रथम और अन्तिम रूप में सौन्दर्य (छवि) की ही अनुभूति है; मर्मानुभूति या मार्मिक जीवनानुभूति नहीं। 'लहर' का जीवन उसके जीवन से [illegible] हुआ है, लहर का जीवन भी उसकी आँख और 'चितेरे हृदय' में है; [illegible] में नहीं।

किन्तु अन्त की चार पंक्तियाँ बताती हैं कि यह सौन्दर्यानुभूति वैसी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं है। यहाँ कवि अर्थ को निकाल रहा है—इस तरह कि शुद्ध सौन्दर्यानुभूति पर वह आरोप जैसा लगता है। एक दार्शनिक पश्चाद्बुद्धि से प्रेरित आर

ड़ती हैं ये पंक्तियाँ :

चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर,
हम आलिंगन करतीं पल-पल
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर उसमें हो हो ओझल

'लहलह' और 'खिलखिल' में जिस प्रकार कवि की अनुभूति का स्पन्दन है स प्रकार इस 'चिर जन्म-मरण' में नहीं। वहाँ कविता है, यहाँ कविता से ज्यादा ाव्यरूढि।

कुल मिलाकर यह एक स्थिर चित्र है। हम अलग-अलग शब्दों के संवेदन आकर्षित होते हैं। रास का चित्र भी उस तरह गतिमय-सजीव नहीं हो पाता. ह तो छन्द की लय ही उतनी स्वतन्त्र और लचीली नहीं; दूसरे, कवि ने रास के म्ब की उद्‌भावना एक सादृश्य के रूप में हिलोरों के चित्र-संवेदन को पुष्ट करने लिए की है; वह भावना उतनी नहीं जितनी उद्‌भावना है, आवेग उतना नहीं तना कि रूप-संवेदना।

अब निराला की 'तरंगों' का अनुभव लीजिए और दोनों कवियों का अन्तर ाइए—

यहाँ रास का संकेत देने वाला कोई शब्द नहीं है—सिवा 'मण्डलाकार' के, के अनायास ही तरंगों का सहज विशेषण बनकर आ गया है—फिर भी चित्र में का पूरा सजीव स्पन्दन अनुभव होता है। पंत में 'मरुत-मुरली की धुन' भी है, रों के 'गृह-पुलिन नाँघने' का जिक्र भी है. रूपक को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। किन्तु निराला की पंक्तियों में शिल्प का वैसा सचेतन उद्योग नहीं है। एक भावना, एक रसावेश है जो तरंगों से उत्पन्न होकर तरंगों से ही तदात्म हो ा है, और उन्हें भी अपने भीतर खींच ले जाता है। "किस अनन्त का नीला ल हिला-हिलाकर, आती हो तुम सजी मण्डलाकार"···यह दृश्य-संवेदन अनुभूति क ही क्षण में पूरे बिम्ब को प्रत्यक्ष सजीव कर देता है। किसी सादृश्य-विचार तराल महसूस ही नहीं होता।

यह एक पूरी चित्रानुभूति है। दूसरे पैराग्राफ में यह संवेदन अपनी ही लय-से दूसरे संवेदनों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। पहला चित्र अपने-आप ं है, उसमें अभी कवि की आत्म-स्थिति का उलझाव-जुड़ाव नहीं है. वह एक य सौन्दर्य का निरपेक्ष-सम्पूर्ण संवेदन है। दूसरे पैराग्राफ में यह संवेदन और आन्तरिक बनकर कवि के अन्तर्जीवन में और गहरे उतरता है, दूसरे शब्दों न्दर्यानुभूति और अधिक 'जीवन' समेटती है अपने प्रवाह में, और यह 'जीवन' के अपने 'जीवन' से अभिन्न है; उस पर आरोप नहीं है, न उसकी सजावट। का जीवन और मनुष्य का जीवन दोनों एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगते हैं :

मन्द-मन्द-गति कभी पवन का मौन भंग उच्छ्‌वास
छाया-शीतल तट के तल आ तकतीं कभी उदास

क्यों तुम भाव बदलती हो
हँसती हो, कर मलती हो।

यहाँ लहरें 'कवि' हैं और कवि 'लहरें'...। किन्तु इसके फ़ौरन बाद 'लहरें' फिर लहरें हो जाती हैं और दूसरा पैराग्राफ़ पहले की लय को फिर समेट ले जाता है (चंचल चरण बढ़ाती हो, किससे मिलने जाती हो ?)

पहले की टेक दुहराकर मूल संवेदन की एकता को व्यंजित करते हुए कवि बड़े बारीक प्रच्छन्न कौशल के साथ दूसरे पैराग्राफ़ का नया संवेदन भी उसमें मिला देता है।

तीसरे पैराग्राफ़ के शुरू होते-न-होते तरंगों के साथ कवि के संघर्षशील व्यक्तित्व का अधिक घनिष्ठ उलझाव प्रकट हो जाता है।

बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी
दग्ध चिता के कितने हाहाकार
नश्वरता की थीं सजीव जो कृतियाँ कितनी
अबलाओं की कितनी करुण पुकार !

विशेषता यह, कि तरंगें जिस प्रकार आवेग के एक धक्के को समेटकर, दूसरे धक्के से प्रभावित होती हुई...अपने को लगातार विस्तृत करती चलती हैं—सहज नम्यता और समीकरणशीलता के साथ; उसी प्रकार कवि की भाव-तरंगें भी उसी लय-गति के साथ अपने आवेगों को क्रमशः समेटती हुई अग्रसर हो रही हैं। जो सन्तुलित गत्वरता तरंगों में है, वही कवि के आवेगों में और वही उसके लय-तुक और शब्द-विन्यासों में।

इन पंक्तियों में कवि एक साथ व्यक्ति और व्याप्ति होकर बोल उठा है। यहाँ कवि का व्यक्तिगत जीवन और व्यापक मानवीय जीवन दोनों एक सुपरिचित बिम्ब-दृश्य की अनुभूति से एकाकार हो गए हैं। तरंगों का अनुभव अपने ही अन्दरूनी दबाव से जीवन और मृत्यु के अनुभव में पर्यान्तरित हो गया है : बिना किसी अतिरिक्त विचारणा (आइडिएशन) के आरोप के। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति की लय-गतियाँ पृथक्-पृथक् न रहकर कवि की वैयक्तिक संवेदना के संपीड़न में एक हो जाती हैं। रूपक का आश्रय लेकर कहूँ तो यहाँ कवि की संवेदना वह पेण्डुलम है जो सौन्दर्यानुभूति और जीवनानुभूति के दो छोरों को पल-पल एक-दूसरे की ओर आकर्षित करती रहती है—करते रहने को विवश है। कवि के रूप में वह अपने व्यक्तिगत जीवन की लय को प्रकृति की लय में और दूसरी ओर व्यापक मनुष्य की लय में ढूँढ़ता-खोजता-मिलाता चला जाता है। इस प्रकार एक ही कविता में तरंगों का अपना जीवन भी पूरी छविमयता में अभिव्यक्त हुआ है और कवि का अन्तर्जीवन तथा व्यापक जीवन का सत्य भी। पन्त की कविता में "चिर जन्म-मरण को हँस-हँसकर, हम आलिंगन करती पल-पल..." यह आवेग-सृजित विचार नहीं है; इसमें चित्र और विचार एकीभूत नहीं; वे मिलाए गए हैं। जबकि इसके विपरीत "बहती जातीं साथ तुम्हारे स्मृतियाँ कितनी दग्ध चिता के कितने हाहाकार..." में एक वास्तविक

बिम्ब का अनुभव कवि की भोगी गई व्यक्तिगत अनुभूति और देखे हुए समष्टिगत हाहाकार का मर्म खींचे लेता है। इसीलिए उसके प्रति हमारी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी सीधी और गहरी होती है।

अब इन कविताओं के साथ प्रसाद की 'लहर' को रखकर देखें :

उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाईं-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर…

इन पंक्तियों को पढ़िए और देखिए, क्या दीखता है ? क्या जो आप देख रहे हैं, वह 'लहर' है ? आप देख रहे हैं या सोच रहे हैं ? शायद आप एक-एक शब्द पर अटकते हुए सोच रहे हैं। नहीं, ऐसे कुछ हाथ नहीं आएगा। पहले पूरी कविता पढ़ जाइए। तब कहीं जाकर आपको ये शब्द दीखेंगे, पकड़ में आएँगे, क्योंकि अभी हाथ में आ-आकर भी फिसले जा रहे हैं।

लीजिए, अब आपने समूची कविता पढ़ डाली और अब फिर से पढ़ रहे हैं। आप इस 'लहर' को पकड़ना चाहते हैं…अनेक अमूर्त चित्रों से घिर-घिर जाते हैं। आपने पन्त में 'मलय-मारुत' की वंशी सुनी थी; यहाँ आप 'मलयानिल की परछाईं' को पकड़ने दौड़ रहे हैं। यह मलयानिल आपको छायावाद में बीसियों बार मिला है। प्रथम आवृत्ति में आपका ध्यान इस ओर गया भी नहीं होगा। काव्य-रूढ़ि में काव्य कहाँ ?… आपने सोचा होगा; और प्रसाद की रूढ़िग्रस्तता से आप संकुचित भी हुए होंगे। फिर आप यहाँ अटके क्यों हैं ? क्या कोई सूक्ष्म तत्त्व झलक मार रहा है ?

स्पष्ट ही, यह 'मलयानिल' भिन्न है। वह रूढ़ार्थ पीछे छूट गया है। एक तो मलयानिल वैसे ही अमूर्त…, फिर उसकी भी परछाईं…यह लहर ! 'परछाईं' से कितना कुछ व्यंजित होता है ! आपको 'अभिनयमय परिवर्तन' की याद आती है और इसी कविता के आगे की पंक्ति—'यह खेल खेल ले ठहर-ठहर'। यह परछाईं 'करुणा की नव अँगराई' और 'सूखे तट' से जुड़कर क्या देती है ? ऊपर कहा गया कि प्रसाद में हर चीज़ प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है, इसलिए नहीं कि वे प्रतीक रचना चाहते हैं बल्कि इसलिए कि प्रतीक उन्हें घेर-घेर लेते हैं। वे सीधे भावावेश में या सौन्दर्य-संवेदन में से कविता रचने नहीं बैठते—बल्कि वे अपनी संवेदना का मनन-मंथन करते हैं—अपने तमाम जीवनानुभव और ज्ञानात्मक चेतना के आलोक में; यहाँ तक कि वस्तु का मूल संवेदन एक बोध-संवेदन में रूपान्तरित होने लगता है और इस अवस्था में वे लिखने बैठते हैं। मानो वे किसी एक कविता द्वारा किसी एक वस्तु को, किसी एक मावस्थिति को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते बल्कि प्रत्येक कविता द्वारा अपने सम्पूर्ण बोध को, अपनी सम्पूर्ण आत्मवत्ता को पकड़ना चाहते हों। इस प्रकार उनकी प्रत्येक कविता उसी एक 'बड़े जीवन' की छोटी कथा बन जाती है।

और यह कथा कभी बासी नहीं पड़ती। शब्द दुहराए जाते हैं मगर उनके अर्थ और प्रयोजन नहीं। प्रत्येक बार वे नये ढंग से हमारे साथ पेश आते हैं। समझने-

जूझने की नई चुनौतियाँ लेकर। मैंने कहा कि प्रसाद बौद्धिक कवि हैं। रहस्यवादी वे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। बौद्धिक कवि से अभिप्राय बुद्धि का कवि नहीं, बल्कि बौद्धिक संवेदना का कवि है। प्रसाद गहन संवेदना के कवि हैं और संवेदन भी कैसा ?···"संवेदन जीवन-जगती को, जो कटुता से देना घोंट" (मनु का मन था विकल हो रहा, साकार संवेदन की चोट) किन्तु वे इस 'संवेदन' को उसकी तात्कालिक विह्वलताओं से नहीं गढ़ते। वे उसे अपनी बुद्धि—अपनी प्रचण्ड बौद्धिकता—में से छानकर थिराने देते हैं। *प्रसाद की यह बौद्धिकता उनकी नितान्त अपनी बौद्धिकता है जिसे उन्होंने साधना द्वारा अपना 'पितृऋण' चुकाकर—परम्परा को अस्थि-मज्जा* तक पचाकर अर्जित किया है। यह पचाने की प्रक्रिया इतनी दीर्घ और अनवरत रही है—इसमें उनकी इतनी जिजीविषा खपी है कि परम्परा का जीवन उनके भीतर उनकी व्यक्तिगत जीवनी के समान ही रच गया है। और दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब सम्बन्ध स्थापित होता चला गया है। उनकी व्यक्तिगत अनुभूति—व्यक्तिगत संवेदन—इस सांस्कृतिक जीवन की ज्ञानात्मक चेतना से टकराकर परावर्तित और प्रतिच्छायित होता है। इसीलिए, यदि उसमें गुणात्मक परिवर्तन आ जाए तो अचरज की बात नहीं। वह स्वाभाविक है। जो व्यक्तिगत है, निजी है, *वह इस संस्कारी बोध से छनकर उससे संघर्षित और अनुकूलित होकर ही बाहर को आता है।* इतना अवश्य कहा जाएगा और यह प्रसाद की आलोचना का एक बुनियादी नुक्ता हो सकता है कि इस प्रक्रिया में अनुकूलन जितना है, संघर्षण उतना नहीं। यह प्रसाद की सीमा—शायद हमारी पीढ़ी के दृष्टिकोण से बहुत बड़ी सीमा—है।

ऊपर उद्धृत अनेक परस्पर सम्बद्ध कविताओं के भीतर से गुजरते हुए हम पहली कविता पर लौटें तो हम उसे अधिक पाते हैं। 'अशोक की चिन्ता' में *हम* पढ़ते हैं :

> आँसू कन-कन ले छल-छल, सरिता-भर रही दृगंचल
> सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने पल

'करुणा की नव अँगराई' एक मानवीय चित्र और एक प्रज्ञात्मक अनुभूति का यौगिक है। 'आँसू कन-कन ले छल-छल' यहाँ अधिक संवेदनमय, अधिक संश्लिष्ट ज्ञानात्मक अर्थ पा जाता है; इसीलिए अधिक मार्मिक भी। 'करुणा' और 'अँगराई'—दो दूरवर्ती शब्दों की *अर्थात्माओं को पास खींचकर कवि ने कैसी व्यंजना उत्पन्न कर दी है ! 'करुणा की नव अँगराई-सी'*···जीवनानुभूति यहाँ विशिष्ट होकर भी सामान्यता से बहिष्कृत नहीं है। 'अँगराई' में जागरण, यौवन, सौन्दर्य और सुषमा की व्यंजनाएँ बोलती हैं और 'करुणा' में एक सांस्कृतिक बोध का अर्जित संवेदन। दोनों को एक कर दिया गया है। 'मलयानिल की परछाईं' की तरह। परछाईं भ्रम होते हुए भी सत्य (गोचर-संवेद्य) है। *मलयानिल अदृश्य-अमूर्त होते हुए भी लहर का स्रष्टा और कारणभूत है। मूर्त और अमूर्त का सन्धि-स्थल है मनुष्य की 'चेतना' जो दो दुनियाओं में एक साथ विचरने को विवश है। उसकी प्रत्येक अनुभूति उसके अस्तित्व के इस मूलगत द्वैत में निहित है। और कवि की हैसियत से उसकी*

एक लड़ाई अपनी इस 'अस्तित्वपरक स्थिति' (एक्जिस्टेंशियल कंडीशन) से भी है। उसे 'जीवन की गहराई' भी चाहिए और 'सत्य की गहराई' भी···। फिलहाल इस कविता की आगे की पंक्तियाँ देखिए :

उठ-उठ, गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पदचिह्न बना जाती
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल-सिहर

'तरल-सिहर' की व्यंजना पर ध्यान दीजिए और इन पंक्तियों के मर्म-वैशिष्ट्य को पकड़ने के लिए एक दूसरी कविता पढ़िए। वही इसकी व्याख्या और पर्याप्त टिप्पणी भी होगी शायद।

कितने दिन जीवन जलनिधि में,
विकल अनिल से प्रेरित होकर
लहरी कूल चूमने चलकर,
उठती-गिरती-सी रुक-रुककर
सृजन करेगी छवि गति-विधि में!
कितनी मधु-संगीत निनादित,
गाथाएँ निज ले चिर-संचित,
तरल तान गाएगी वंचित,
पागल-सी इस पथ-निरवधि में!
दिनकर, हिमकर, तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल
चित्र बनायेंगे निज चंचल,
आशा की माधुरी अवधि में।

प्रसाद की लहर 'अस्थिर माया का अभिनय' नहीं है। वह 'आशा की माधुरी अवधि' है, 'करुणा की नव अँगड़ाई' है। चूँकि जिसके लिए उसने 'मन अपने में है चंचल' कहा है, वह स्वयं उसमें न होकर उसका साक्षी, उसका कवि है, अतः इसीलिए वह अकेला भी है ('छूटे जाते सूने पल'···)। इन सूने पलों को सार्थकता कौन देगा? इसके लिए वह उसी 'करुणा' का आह्वान करता है।

तू भूल न री पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर

यह करुणा महज भक्ति के रसावेश में से प्राप्त किया गया आश्वासन नहीं है। 'कण-कण करुण माधुर्य' उसमें देखकर वह करुण है, जब उसकी पीड़ा [illegible]', और अश्रुओं के [illegible] को समेटने वाले सूर्योदय [illegible] कि वह 'मोह भरी माया' देखता है, पर उसी करुणा से ही वह आवेष्टित है। वह स्वयं को 'पुरुष [illegible]

'कंपित' ही महसूस करता है। निरन्न अनिल (जरा 'मलय-अनिल' से इसकी मं
मिलाइए) से प्रेरित जीवन जलनिधि की लहरें उस निरवधि, उपाधि-शून्य पथ की या
सरीखी ही जान पड़ती हैं। फिर वह किस करुणा का आह्वान कर रहा है? नि
याचिक ही यह रूढ़ आस्तिक विश्वास की करुणा नहीं है। प्रसाद उस तरह के आस्ति
नहीं हैं। तब? क्या यह बौद्ध करुणा ('महाकरुणा') है? उत्तर इतना आसान नहीं
संभवतः इसका सम्बन्ध उस 'प्रज्ञा' से है, जिसका अनुभव पाने के लिए प्रसाद
आजीवन साधना की और जिस साधना में उन्होंने अपने व्यक्तित्व से भरसक लगा
पलायन किया। पलायन! लेकिन जीवन में नहीं; अपनी 'व्यक्तिता से। य
'व्यक्तित्व से पलायन' में आपको एलियटी छूत प्रतीत होती हो तो आप 'व्यक्तित्व
होम' कह सकते हैं। उसमें छूत भी न होगी और भारतीयता भी ज्यादा रहेगी।

ऊपर 'लहर' के विश्लेषण के दौरान प्रसाद के कवि की एक मूलभूत पर्यु
षता का संकेत उभरा है—मानवीय चेतना में निहित अस्तित्व के द्वैत की समस्
जो प्रसाद में बार-बार उभरती है। हम पाते हैं कि प्रसाद की कवि-चेतना वैरा
विषाद और अनुराग-आह्लाद की एक अजीब रंग-स्थली-सी है। उनका वैराग्य अ
मूलभूत है (हालांकि इतनी विलासी, ऐश्वर्यमयी कल्पना छायावादी कवियों में कि
को प्राप्त नहीं): नील (विषाद) गगन की भाँति, जिसमें अनुराग के रंग खि
और विलीन हो जाते हैं। प्रसाद का विराग व्यक्तिगत अनुभूति और सांस्कृति
अनुभव का अविच्छेद्य यौगिक है। यही उनके अनुराग-क्षणों को—विलास-वृत्ति क
भी—सौन्दर्य, अर्थ और एक पवित्र प्रभामयी गरिमा दे देता है। (उन नृत्य-शिथिल
निःश्वासों की कितनी है मोहमयी माया…)

मनुष्य की अस्तित्वपरक परिस्थिति मे निहित द्वैत की करुणा प्रसाद की कवि-
संवेदना मे एक स्थायी भाव की तरह बद्धमूल है।

वेदना-विकल यह चेतन
जड़ का पीड़ा से नर्तन
लय-सीमा में यह कंपन
अभिनयमय है परिवर्तन
चल रहा कभी से यह कुढंग

इन पंक्तियों की संश्लिष्ट व्यंजना को देखिए। यह पश्चिमीय या फ्रायडीय दुखवाद नही है। उमरखैयामी बिम्ब-योजना तक प्रसाद के यहाँ नई अर्थच्छवियाँ उभारती है।

इन पंक्तियों मे 'बिम्ब' है। किन्तु कवि की दृष्टि सर्वथा आशय के सारपूर्ण अंकन की है। एक-एक शब्द सटीक-सारगर्भित है। 'लय-सीमा मे यह कंपन' पढ़ते ही हमे 'आँसू' की 'चेतना-लहर न उठेगी; जीवन-समुद्र थिर होगा' का स्मरण हो आता है। देखने की बात है कि किस प्रकार प्रसाद अपनी अनुभूति को बौद्धिक सारतत्व में—वह कि 'बौद्धिक बिम्ब' में ढालने के अभ्यस्त हैं। दरअसल वे अनुभूति की बजाय अनुभूति का आसव पेश करते हैं। चौथी पंक्ति की गढ़न देखिए…'अभिनय-

त्य है परिवर्तन'। वे चाहते तो मायामय भी कह सकते थे। फिर उन्होंने 'अभिनय-मय' क्यों कहा? अभिनयमय में जो व्यंजनाएँ हैं (एक साथ खीझ, नैराश्य, वक्रता, विनोद और लीला की) वे मायामय में कहाँ?

आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती
दृग-पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती
कलरव कर सो जाते विहंग

कितनी नश्वरताओं का अनश्वर बिम्ब है! ···आयु की, संकल्प की, प्रेरणा की, दृष्टि की।···

इस नील विषाद-गगन में, सुख चपला-सा दुख-घन में
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका वन में
उलझा है चंचल मन-कुरंग

यह है विशुद्ध वैराग्य का काव्य! विशुद्ध और सारमय। प्रसाद में कोई भी शब्द महज अलंकरण नहीं होता। प्रत्येक शब्द उनके अन्तर्जीवन (और बुद्धिजीवन) में गोता लगाकर बाहर आता है। यह ऐसा दावा है जो छायावाद के किसी अन्य कवि के बारे में नहीं किया जा सकता।

●

अपने सहवर्तियों के बीच प्रसाद की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए—पन्त और निराला के साथ उनकी तुलना के आधार जुटाने के लिए तीनों की लगभग एक ही विषय से प्रेरित एक-एक कविता को नज़दीक से विश्लेषित करने के बाद अब कुछ अन्य निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है।

प्रसाद का अपना स्वर, अपनी टोन है जिसके द्वारा वे अपनी एक-दो पंक्तियों द्वारा ही पहचान में आ जाते हैं। उनकी प्रारंभिक कविताओं की भाषा और शिल्प पन्त और निराला जैसा विस्फोटक नयापन नहीं है। किन्तु जहाँ इन दोनों कवियों की कविता में उनकी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ काफ़ी देर बाद सुनाई देती है, वहाँ प्रसाद का कवि अपेक्षाकृत जल्द ही वयस्क होकर अपनी आवाज़ में अपनी बात कहने का आत्मविश्वास प्राप्त करने लगता है। इसके बावजूद वह कम रोचक और श्रुति-मधुर है क्योंकि उसकी समस्या पद्य में सच बोलने की एक पुष्ट और समर्थ शैली प्राप्त करने की है—परम्पराप्राप्त भाषा को अपनी वाणी के रूप में स्पष्ट अनुभव करने की है; वह उतना आत्म-सम्मोहित नहीं है जितना कि वाक्-सम्मोहित। न केवल ब्रजमाधुरी के विरुद्ध हिन्दी गद्य के ठण्डे विकास को—व्यवस्थित और स्पष्ट चिन्तन की उसकी नवजात क्षमताओं को—प्रसाद का पद्य अपने भीतर समेटता है, बल्कि अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त छन्दविधियों की भी सामर्थ्य को भरपूर इस्तेमाल करता चलता है।

प्रसाद में आवेग-सर्जित लयकारियों की वैसी समृद्धि नहीं है जैसी कि निराला में देखते हैं। उनमें भाषा के प्रति वैसी मोहमुग्धता, रूपरंग की नई-नई उद्भावनाओं का उत्साह भी नहीं लक्षित होता। उनके मासिक संवेदन में निराला का लचीला-

म नहीं है। शब्दों के रंग-रूप की उनकी सीमा-बूझ सीमित है। शब्दों का व
और गुंफन भी उन्हें आकर्षित नहीं करता, शब्द उनके यहाँ बाँध तोड़कर न
रहते...धीरे-धीरे विगलित होते हैं। निराला कई बार शब्दों को किसी शाहमर्द
तरह अगाध-अगोचर गति से अपने भीतर से बाहर को फेंकते प्रतीत होते हैं: अ
निहित-संभाव्य अर्थों के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व का प्रचण्ड दुर्दम वेग भी उन
शब्द वहन करते और झलकाते प्रतीत होते हैं मानो यह भी उनके कवि-कर्म व
अनिवार्यता हो और कमाल यह कि अगर यह अतिरिक्तता पाठक को मन
नहीं—उसके आलोचकत्व को उकसाती नहीं, वह छूट दे देता है, बिना जाने-महसू
कि वह छूट दे रहा है। निराला का प्रचण्ड वेग ही मानो पाठक की सजगता क
शिथिल कर देता है। शब्दों की यह ऊर्जस्विता और अतिरिक्त दीप्ति प्रसाद के यह
बहुत कम देखने को मिलती है। हाँ, उनकी ध्वन्यात्मक संवेदना निश्चय ही विशिष्ट
है। हालांकि उसमें निराला जितना वैविध्य नहीं है; तो भी यह शायद इसीलिए है
कि वह स्वभावतया अधिक विशेषीकृत है और इसी कारण उनकी अभीष्ट-सिद्धि के
लिए पर्याप्त भी। प्रसाद शब्द की ध्वनि का अपने स्वरों की सीमाओं में विशिष्ट
उपयोग करते हैं (उनका संगीत व्यंजनों की अपेक्षा स्वरों पर अधिक अवलम्बित है)
किन्तु उनकी लयगति निराला की अपेक्षा कम स्वतन्त्र है। निराला का छन्द पर
असाधारण अधिकार है। *यह कहना कुछ विचित्र लगेगा किन्तु कहे बिना रहा भी
नहीं जाएगा कि मुक्त छन्द में मुझे प्रसाद की गति अधिक सहज और मुक्त प्रतीत*
होती है—बनिस्बत निराला के। विशेषकर लम्बी कविताओं में। 'शिवाजी का पत्र'
की तुलना आप 'प्रलय की छाया' से करके देख सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निका-
लना अस्वाभाविक न होगा कि अपने भाव-संवेगों (अन्ततः अपने व्यक्तित्व) पर
प्रसाद को निराला की अपेक्षा अधिक अनुशासन सिद्ध था। और उपयुक्त वस्तु-
स्थिति पाकर उसकी अभिव्यक्ति भी अधिक मितव्यय-सुघर हो जाती थी।

निराला की वे लम्बी रचनाएँ अधिक सफल हैं *जिनमें छन्द का अनुशासन है।
बल्कि छोटी कविताओं तक में जहाँ छन्द जितना ही जटिल है, भाव-संवेग उतनी ही*
सुन्दरता के साथ व्यक्त हुए हैं। प्रसाद में स्थिति इसके विपरीत नहीं, तो भिन्न
अवश्य है। वे चुनी हुई सरल-साधारण लयगतियों में सूक्ष्म-संश्लिष्ट भावों की योजना
कर देते हैं। बात यह है कि प्रसाद में भाव-संवेगों की मूल शक्ति-प्रेरणाएँ काव्य नहीं
रचतीं—एक दीर्घ अनुशासित भाव-साधना में से छनकर कविता निष्पन्न होती है।
इसीलिए वे पहले से सुघर-व्यवस्थित रहती हैं और मुक्त छन्द की *मुक्तता में भी
बिखरती नहीं; जबकि निराला में भाव-संवेग अपनी मौलिक तीव्रता और विह्वलता*
में ही काव्य का कारण बनता है। अतः उसके सुन्दर काव्याभिव्यक्ति में परिणमित
होने के लिए छन्द का अनुशासन आवश्यक और सहायक-साधक होता है। प्रसाद के
स्वभाव में ही इतना संयम और अनुशासन है कि उन्हें अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अनु-
शासन और अतिरिक्त सजगता की उतनी जरूरत नहीं पड़ती।

प्रसाद की कुछ लयगतियाँ उन्हें इतनी अनुकूल पड़ती हैं—*उनके कवि-स्वभाव*

से इतनी सम्पृक्त हो गई हैं कि वे कवि की अपनी विशिष्ट आवाज़ की अनुगूँज-सी रह जाती हैं हमारे कानों में।...'जगे हम, लगे जगाने विश्व'..., 'हिमाद्रि तुंग-शृंग से'..., 'इस निर्जन चाह में निकलकर, आओगे तुम आओगे'..., 'उस मृदुल-निश्चित निःस्वाणी की, कितनी है मोहमयी माया'..., 'अब जागो जीवन के प्रभात', 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर', 'बीती विभावरी जाग री'...इत्यादि उनकी कुछ चुनी हुई स्वरणियाँ हैं, जिनकी सामर्थ्य का उन्होंने भरपूर उपयोग किया है और जिनका संगीत मानो प्रसाद की कविता का खास अपना, बहुत अपना संगीत है, उनका खास अपना आविष्कार है। निराला की प्राणशक्ति अधिक दुर्दम है, इसलिए उनकी लयात्मक उद्भावनाएँ भी संख्या में अधिक हैं; अधिक रोचक भी। निराला ने हिन्दी भाषा की सांगीतिक सम्भावनाओं का अधिक दूरगामी उपयोग और विस्तार किया है। उनकी कविता भाषा के अधिक स्तरों पर कार्यशील हुई है—पन्त या प्रसाद की तुलना में। पन्त का भावजगत् इन दोनों की अपेक्षा संक्षिप्त और सीमित है, अतः उनके यहाँ शिल्प-पक्ष को अतिरिक्त महत्त्व मिला है और उस दृष्टि से उनका योगदान उल्लेखनीय है। किन्तु यह योगदान 'वागर्थसम्पृक्ति' के सूक्ष्म स्तरों पर बहुत कम है; रूपगठन और कलात्मक परिष्कार के स्तर पर ही वह अधिक सक्रिय है। उनकी कोमलतावृत्तियाँ स्वभावतः वहीं अधिक रमती हैं जहाँ मानवीय जटिलताएँ अनुपस्थित हों या उन्हें सरल कर लिए जाने की गुंजाइश हो। प्रकृति-वर्णन में वे इसीलिए सफल और काफ़ी कुछ मौलिक हो सके क्योंकि यह उनके लिए अनुकूल क्षेत्र था। प्रकृति जड़ है और वह कल्पना को कम-से-कम प्रतिरोध देती है। पन्त उसी सौन्दर्य के कवि हैं जिस तक कम-से-कम प्रतिरोध और संघर्ष द्वारा पहुँचा जा सके। प्रकृति उन्हें यह सुविधा देती है। उनकी वृत्ति हर चीज़ को सरल, सुन्दर और स्वप्निल करने की है और अवसर वे ऐसी ही वस्तु चुनते भी हैं। विवादी भावों को साधना उनके बस की बात नहीं (निराला तो स्पष्ट ही कहते हैं: 'स्वरविवादी ही लगा')। न वह 'पैशन' ही उनमें था कि वे अपने-आपको किसी आवेग में या किसी दार्शनिक बेचैनी में पूरी तरह झोंक सकें। फिर भी उनके 'परिवर्तन' में एक आश्चर्यजनक (अभूतपूर्व और अभूतपश्चात्) लयात्मक उत्तेजन है। शायद पहली बार उन्हें उद्वेग, शंका और अनास्था की मन.स्थितियों को झेलने-समझने की कोशिश करने का उत्साह और साहस हुआ। 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' में भी कुछ ऐसे स्थल हैं। ऐसे स्थलों पर उनका रूपतंत्र भी विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। किन्तु मुश्किल यही है कि वे ऐसी मन.स्थितियों को देर तक सहन नहीं कर पाते। एक स्वप्नशीलता ही उनके अन्तर्जीवन की नियामक-प्रेरणा बन रहती है। एक बार फिर 'ग्राम्या' में आकर वे अपनी अतिस्वप्निलता से जगते हैं और प्रकृति की पृष्ठभूमि में जीवित मनुष्य पर दृष्टिपात करते हैं। पूरी तरह उलझ जाना तो उनके बस की बात नहीं है पर उन्होंने कम-से-कम उसके नज़दीक आने का प्रयास तो किया ही है। जीवन से थोड़ी सी निकटता हासिल करने पर एक सौन्दर्य-चेतन शिल्पी कवि कितना कुछ दे जा सकता है, इसका प्रमाण 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ देती हैं: 'धोबियों का नृत्य' जैसा

मौलिक छन्द-शिल्प, 'भारतमाता ग्रामवासिनी' जैसी गहरी भाव-सृष्टि और 'अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन' जैसे टिकाऊ शब्दचित्र और मानवीय संस्पर्श…।

'नौकाविहार' इसीलिए बराबर अच्छी लगती है कि उसमें कवि छन्द को और शब्दों को अपने साथ चला सकने में सफल हुआ है। उसमें विषयवस्तु की एक विश्वस्त प्रगति है। उसका शब्द-कोश भी ज्यादा लचीला है और लय-योजना भी। हर पंक्ति को कविता बनाने की अस्वाभाविक और व्यर्थ कोशिश उसमें नहीं है। वर्णन के साथ विचार और संवेदन (सैंसेशन) की लय गुँथी हुई है और अपनी भाषा को कवि अवसरानुकूल मोड़ सका है। साथ ही उसमें थोड़ी हरकत (एक्शन) भी है : वर्णन जड़ और अगत्यात्मक नहीं है। अनावश्यक अलंकरण भी कम-से-कम है। 'धोबियों का नृत्य' में भी शिल्प की यह समतोल व्यवस्था और यथेष्टता सराहने योग्य है। दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत 'ग्राम-युवती' में सन्तुलन बिगड़ जाता है। कौशल उघड़ जाता है और वस्तु की संवेदना उसमें आच्छादित हो जाती है। कौशल यूँ जरूरी है किन्तु वह वस्तु में अंतर्निहित हो जाना चाहिए। वही उघड़ जाए तो बाकी सब-कुछ गड़बड़ा जाता है। 'वसन्त' में क्या कम कौशल निहित है? किन्तु वह वस्तु-संवेदन में रच-बस जाता है और हम उस अनुभूति रम जाते हैं—उसके उपकरणों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। सामान्यतया प यह खूबी समूची कविताओं में कम और अलग-अलग खण्डों में अधिक परिलक्षित है; जबकि इसके विपरीत प्रसाद की कविता का आस्वाद एक समूची, अखण्ड र का आस्वाद होता है।

प्रसाद को अपना कौशल छिपाने की जरूरत ही नहीं जान पड़ती। वे कौ से बहुत काम लेते प्रतीत ही नहीं होते। उनका 'अर्थ' रूप के साथ संघर्ष करता महसूस होता। उनकी प्रतिभा का रुझान रूपकधात्मक है। भाषा से भी ज्याद रूपों में (मधुप, झरना, लहर, भिक्षुक आदि) अपनी अभिव्यक्ति खोजते हैं। ऐसा किसी भाषिक अक्षमता के कारण था? नहीं, क्योंकि वे भाषा के कई प्रकार अच्छी तरह परखे हुए थे। उनकी कुछ कविताएँ ही नहीं, उनकी कहानियाँ भी प्र हैं कि न वे आदमी की सामाजिक-वैयक्तिक जटिलताओं के प्रति उदासीन थे न उसके वास्तविक परिवेश और भाषा के प्रति। निश्चय ही, जैसा कि पहले ही सं किया गया, उनकी भाषिक संवेदना निराला की तुलना में कम विस्तृत और कम स है और शब्द-साधना भी अधिक विशेषीकृत होने के कारण अन्य कवियों के लिए निर की तरह आकर्षक और फलदायी नहीं जान पड़ती। (निराला का अनुकरण किया सकता है और यह प्रारम्भिक अभ्यास फ़ायदेमन्द भी हो सकता है; कवियों के दी गुरु वे हो सकते हैं रूपतंत्र की दृष्टि से विशेषकर। किन्तु प्रसाद का अनुकरण तो उतना आसान है और न उतना सुरक्षित; उस अर्थ में कवियों के कवि वे न हैं; उनके शब्द एक विशेष वातावरण में ही साँस लेते हैं—कदाचित् इसीलिए भा के सामान्य प्रदूषण और भ्रंश की प्रक्रियाओं से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित और सु

भी साबित हों; किन्तु क्या इसी कारण विशेष रुचि और दीक्षा की माँग करने वाला उनका कवि सुदूर और दुर्लभ नहीं पड़ जाता ?)

दरअसल उनकी रूप-आसक्ति एक विशेष प्रकार की अर्थासक्ति का अनिवार्य परिणाम है, जिसका विश्लेषण करते हुए हम किसी नतीजे पर शायद पहुँच सकें। सभी जानते हैं कि प्रसाद भारतीय संस्कृति और भारतीय तत्व-चिन्ता के गहरे अध्येता थे। परन्तु इस तथ्य को भी महसूस करना आवश्यक है कि उनका यह अध्ययन मात्र अध्ययन—पाडित्य-लालसा—नहीं था। उसमें उन्होंने अपना व्यक्तित्व—अपनी जिजीविषा ही—झोंक रखी थी। अतीतजीवी का भ्रम यहीं से खड़ा होता है। पर वह भ्रम ही है और भ्रम से भी भयकर अर्द्धसत्य। प्रसाद उन लोगों में से है जो अपने-आपको भी संस्कृति की आँख से देखते हैं। उन्होंने आजीवन उस सास्कृतिक आँख को पाने के लिए तप किया। यह तप कठिन है और जरूरी भी; ऐसे युग में तो और अधिक (खासकर हमारे यहाँ) जबकि आदमी की संवेदना और उसकी संस्कृति के बीच के सारे सेतु भरभरा चुके हों। भारतवर्ष में तो यह स्थिति सबसे ज्यादा करुण है जिसका विश्लेषण फिलहाल अप्रासंगिक होगा। बहरहाल मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रसाद ने स्वयं को भारतीय दृष्टि से इस कदर तदात्म कर दिया था कि उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति काव्य में उसी दृष्टि के द्वारा सम्मत विधियों से ही सम्भव थी। उनका अतिक्रमण करना उसके लिए बेईमानी होती। हमारे दृष्टिकोण से तो नहीं, किन्तु उनके दृष्टिकोण से—शायद। अतिक्रमण वे कर सकते थे लेकिन नहीं कर सके। क्यों? ('स्कन्दगुप्त' की रचनात्मक विडम्बना ही देख लीजिए)

प्रसाद की व्यक्तिगत मनीषा पर भारतीय मनीषा का बोझ था जो उन्होंने स्वेच्छा-आग्रहपूर्वक धारण किया था। उसके साथ अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने तदाकार कर लिया था। मेरा अन्धविश्वास है कि बीसवीं सदी के किसी भी भारतीय कवि ने इस बोझ को इतना और इस तरह वहन नहीं किया होगा, जितना कि प्रसाद ने। प्रसाद की भारतीयता निराला, अज्ञेय और रवीन्द्रनाथ की अपेक्षा कहीं अधिक जिम्मेदार, आधिकारिक और विशाल थी। वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण और बौद्धों के भी बौद्ध थे।

निराला के बारे में कहा जा सकता है कि उनकी कविता की सीमाएँ उनके व्यक्तित्व की सीमाएँ हैं। एक दूसरी अतिवादी स्थापना यह भी देने को मन करता है (क्योंकि बिना अतिरंजना के तो सत्य भी नहीं कहा जाता; हिन्दी में तो और भी नहीं) कि प्रसाद के कवित्व की सीमा भारतीय काव्य-दृष्टि की सीमा है। इस बात पर थोड़ा विस्तार से विचार करना होगा।

रचना क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पीछे जो भी कारणभूत दबाव और वस्तुस्थितियाँ रही हैं, उन्हें बोध के किस स्तर पर एकाग्र और संघटित होना पड़ा है। जिस तरह जीव के विकास का इतिहास अस्तित्व के लिए संघर्ष का इतिहास है, उसी प्रकार जीवन के अर्थ का इतिहास भी अस्तित्व के लिए

संघर्ष का ही इतिहास है। इसलिए सबसे ज्यादा कविता वहाँ होनी चाहिए जहाँ यह संघर्ष सबसे ज्यादा बुनियादी और व्यापक हो। कवि का व्यक्तित्व मानो एक रणक्षेत्र है जिसमें अब तक का अर्जित मानवीय ज्ञान और अर्थ उन सारी चीज़ों और स्थितियों के विरुद्ध संघर्षरत होता है जो उस अर्थ को निरर्थक किया चाहता है।

प्रसाद की कविता में मानवीय अर्थ के लिए यह संघर्ष मौजूद है। वही उसे एकत्व भी देता है। किन्तु कठिनाई यह है कि उनका आग्रह इस संघर्ष को कुछ आदिम रूपों (रूप-कथाओं) और एक विशिष्ट संस्कृति-प्रसूत प्रतीकों और अवधारणाओं की टर्म्स में परिभाषित करने का जान पड़ता है। उनके औज़ार कुछ पुराने पड़ गए लगते हैं। अर्थ के लिए भारत में जो संघर्ष किया गया उसको प्रसाद का कवि—'झरना' से लेकर 'कामायनी' तक—एक उपलब्धि के रूप में मान लेता है। किन्तु मुश्किल यह है कि हमारी विचित्र विडम्बनापूर्ण ऐतिहासिक परिस्थितियों ने—शताब्दियों के सूने अन्तराल ने—हमारे भीतर उस अर्थ की जीवन्त सक्रियता को समाप्त-सा कर दिया है; उसे सुदूर और दुर्लभ बना दिया है। वह हमें इस युग के पुंजीभूत 'अनर्थ' से संघर्ष करने के लिए पर्याप्त आत्मविश्वास और उत्साह नहीं जुटाता। एक अजीब अयथार्थता से ग्रस्त हो गई है हमारी सांस्कृतिक चेतना। दूसरे शब्दों में हमारी सामान्य मानवीय चेतना और हमारी सांस्कृतिक चेतना के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की परम्परा ही हमारे यहाँ नहीं बन सकी। जितना जो कुछ संघर्ष रहा, वह बहुत ही खण्डित और बिखरा-बिखरा'''।

यह नितान्त सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपनी कठोर साधना द्वारा उस सांस्कृतिक चेतना-परम्परा के सर्वोत्कृष्ट को अर्जित कर ले (जैसा कि प्रसाद ने कर दिखाया) किन्तु इससे कवि की हैसियत से उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। उनके अपने दृष्टिकोण से हो भी जाए, तो भी दूसरे परवर्ती कवियों के लिए उसका कृतित्व उतना सार्थक-उन्मेषकारी नहीं बन पाता।

हमने देखा कि प्रसाद अतीतजीवी नहीं थे। उनका व्यक्तित्व सरलीकृत भी नहीं था। वह निरन्तर संघर्षशील था अर्थ के लिए. बिल्कुल विरोधी मनोभूमियों की कविता भी उनके यहाँ आमने-सामने मिल जाएगी। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि वे पर्याप्त आलोचक नहीं थे—उस संस्कृति, उस दृष्टि के प्रति जिसे उन्होंने साधनापूर्वक अर्जित किया। उन्होंने उस दृष्टि को अपनी जीवनानुभूति का, अपनी बौद्धिकता का भी निकष-सा बना लिया। उनमें 'ट्रैजिक सेन्स' था। उनकी 'करुणा' एक जटिल संवेदना का समानुभव है; सरल संवेदना का नहीं (जैसा कि उनकी कविताओं के पाठ से हम अनुभव करते हैं)। किन्तु यहीं तो एक गहरी शिकायत उभरती है कि उन्होंने अपनी जटिल संवेदना को लेकर उलझे हुए (अर्थात् बकरन से ज्यादा साफ-सुथरे) रूप में क्यों व्यक्त किया? क्या नहीं उन्होंने अपनी मन:स्थितियों को उनकी मूल आवेगात्मकता में उद्घाटित किया? क्यों उनकी कविता की ऊर्जा आवेगात्मक उन्मोचन की बजाय अर्थ के ऊर्ध्वगामी अन्वेषण को ही संभव बनाने में व्यय हो जाती है? क्यों कवि के रूप में उनकी जिद अपनी चेतन-अवचेतन जीवनानुभूति को परिवेश (गुहरकाधार)

बोध में उद्‌घाटित करने की है ? क्या कविता प्रसादजी के लिए आत्म-परिष्कार में ही है; आत्मा की अस्तव्यस्तता, अराजकता और अनगढ़ता में नहीं ?

गौर करके देखने पर यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्रसादजी ने अपनी कविता को अपने सांस्कृतिक बोध की सीमाओं के भीतर ही पाला और पनपाना चाहा। नहीं, उसकी सीमाओं के प्रति पर्याप्त स्वचेतन होने की निर्ममता उनसे नहीं सधी। उनके कवि-व्यक्तित्व पर 'व्यक्तित्व' की भारतीय धारणा का अंकुश रहा। काव्य में 'व्यक्तित्व' की अभिव्यक्ति कितनी, कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि बहुत उन्मुक्त और उदार नहीं है। इस युग में वह चल नहीं सकती। किन्तु हम मानें, न मानें, हमारे अनजाने ही वह धारणा भारतीय कवि की स्वतन्त्रता को संकुचित और बाधित करती रही है। प्रश्न उस तरह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का ही नहीं है। वह दूसरी गहरी समस्या उपजाता है—अस्तित्व की अभिव्यक्ति की। और उस प्रकार का अंकुश यहाँ अनिष्टकर हो सकता है। कविता की समस्याएँ मात्र व्यक्तित्व की समस्याएँ नहीं हैं। आपने अपने व्यक्तित्व को कितना धीर, उदार, गहन या विस्तृत बनाया, इसे आपकी कविता प्रमाणित करे यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि आपकी कविता आपके व्यक्तित्व के माध्यम से मानवीय अस्तित्व का कितना दबाव अपने ऊपर झेलती है, उसे कितना मूर्त और परिभाषित करती है। और अस्तित्व की समस्याओं को किसी एक संस्कृति (जो सक्रिय नहीं रही) की भाषा में प्रतिबिम्बित देखने की चेष्टा ग़लत न होते हुए भी अपर्याप्त है। वह प्रक्रिया बाद में अपने-आप काव्य-विकास की अनिवार्य परिणति के रूप में आए तो वह उस तरह आलोचना का विषय नहीं बन सकती। (हालाँकि बनती ही है फिर भी) किन्तु पहले से इस प्रक्रिया में उलझ जाना उसके काव्य-फल की तुम्बा ही तोड़ लेने जैसा है। कविता जिन दबावों में से निष्पन्न होती है, उनमें से एक सांस्कृतिक चेतना भी है। किन्तु सबसे ज़रूरी और फलदायी दबाव वह है जो कवि को कहीं टिकने नहीं देता; उसके संस्कारी मन, सांस्कृतिक बोध में भी नहीं।

निश्चय ही ऊपर प्रसाद की कविता का जो विश्लेषण-विवेचन किया गया है, वह उक्त आरोप की धार को जगह-जगह कुन्द भी कर सकता है। किन्तु इतना तो स्पष्ट ही है कि भारतवर्ष में कविता और कवित्व की जो धारणाएँ रही हैं, उनमें उक्त प्रकार के संघर्ष के लिए गुंजाइश कम—काफ़ी कम—रखी गई है। उन पर वास्तविक मानवीय जीवनानुभूतियों का दबाव कम और दार्शनिक धारणाओं एवं भावनाओं का दबाव अधिक रहा है। रस ही कविता का निकष नहीं है; कविता भी रस की निकष है, इस तथ्य को तो कभी से हमारा मुग हमें पहचानना रहा है, किन्तु इस पहचान का पूरा-पूरा उपयोग होने में अभी काफ़ी कसर है।

ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व से पलायन का नुस्खा भारतीय कवि के लिए उतना प्रासंगिक और असर नहीं है जितना कि व्यक्तित्व में पलायन का नुस्खा। दार्शनिक—या अन्ततः काव्यात्मक दृष्टि से भी यदि वह बुरा हो, तो भी इस बुराई की ज़रूरत हिन्दी कविता को है। शायद यही कारण है कि आज हमारे आगे और

साहित्य में फैशन का ही इश्क फैला हुआ है। हिन्दी का कवि इस स्व
समूचा पूरा गुजर निकले, तभी वह यथार्थतः भारतीय दृष्टि का पु
उपयोग करने की स्थिति में आएगा। यही नहीं, उसे अपनी भारतीयता
और समूचा प्रहसन तभी होगा। फ़िलहाल हिन्दी कवि की, कवि के रूप
इस बात पर निर्भर नहीं करती कि उसमें भारतीयता है या नहीं। वह
इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें व्यक्तित्व, 'पैशन', कट्टरता है
भारतीय आदमी में कट्टरता का अभाव होता है। जहाँ उसे लचीला होना च
वह कट्टर होता है। बाकी सारे स्थलों पर वह ढुलमुल हुआ करता है।
तीव्र संवेदनात्मक प्रतिक्रिया नहीं करता।

ये बातें यदि अवान्तर ही हों, तो भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं हैं क्यों
का कवि हमें इन पर सोचने का अवसर देता है। यह भी उसका एक
माहात्म्य है। किसी भी अन्य कवि का अनुशीलन हम में इस प्रकार के
को नहीं उकसाता। प्रसाद इसलिए उकसाते हैं कि उनके काव्य का वैशि
लगने, न लगने की कोटि से ऊपर अवस्थित है। बात महज इतनी ही न
एक अत्यन्त शालीन और संस्कारी कवि हैं: महत्त्व की बात यह है कि
के कवि हैं—एक समूची संस्कृति के प्रतिनिधि कवि। ऐसे कवि से
रिश्ता वास्तविक प्रेम और वास्तविक असंतोष और घृणा का ही हो स
उपेक्षा और अवहेलना का कदापि नहीं। कोई भी संस्कृति ऐसे कवियों के ब
नहीं सकती। परम्परा उनके भीतर अपने-आपको पहचानती है; आत्म-चेत
है और नया जीवन पाकर आगे को बढ़ती है। इसीलिए उनका महत्त्व है
अर्थ में वे 'विश्वविद्यालयों के कवि' हैं। उनकी भाषा में द्विवेदी-युग का
परिष्कार और छायावाद की नई व्यंजकताएँ—दोनों का एकत्र परिपाक हुआ है।
व्यंजकताएँ स्वयं उनकी अपनी वैयक्तिक संवेदना और प्रतिभा का फल हैं।
कविता की गरिमा संस्कृति की मोहताज नहीं: हिन्दी के तद्भव संस्कार
तक का विकास ही उसके लिए यथेष्ट है: कम-से-कम छूट लेकर अधिक-से
कविता उन्होंने उससे निचोड़ी है। उनका वाक्य-विन्यास उनकी अपनी विशिष्ट
की रक्षा करते हुए हिन्दी के वाक्य-विन्यास की भी रक्षा करता है। हिन्दी की
में निहित अनगढ़ताओं से यह कवि संकुचित और बाधित नहीं। कविता का
अन्ततः भाषा का आस्वाद है; और हम पाते हैं प्रसाद की कविता की तरह
की भाषा का आस्वाद—भी नितान्त वैयक्तिक—विशिष्ट और विलक्षण होते
सहज विश्लेष्य नहीं है। इसीलिए उसका अनुकरण भी आसान नहीं है (उन
की तरह) हालांकि उनके पद्य की तरह उनके गद्य की भी लय विशिष्ट है;
चूंकि गद्य अपेक्षाकृत स्थूल माध्यम है और प्रसाद का असली अन्तरात्मिक लगाव
से है; अतः उनका गद्य—उनके अपेक्षाकृत स्थूलतर प्रयोजनों का संवाहक है
कारण—अपने बाहरी लक्षणों और रूप-रंग में आसानी से अनुकरणीय हो जाता
(अनुकरण हुआ भी काफी)। हम यह भी ... सकते हैं कि यहाँ उनका

'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' में से आता है, वहाँ उनका गद्य संभवतः उन मनः-स्थितियों से प्रेरित होना चाहता होगा जिन्हें उन्हीं की शब्दावली के वज़न पर 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूतियाँ' कह सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अस्वाभाविक न होगा कि प्रसाद के भीतर अपने ही रचनात्मक स्वभाव को लेकर एक घपला-सा था। यूरोपीय काव्य-चिन्तन और आलोचना में 'सोल' का प्रयोग सहज भाव से सुनिश्चित अर्थों में किया गया है। उससे लिपटी हुई दार्शनिकता उसके साहित्यिक संदर्भ को धूमिल नहीं करती। हमारे यहाँ दुर्भाग्यवश यह सम्भव नहीं है। 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' इसलिए भी एक गोलमोल मुहावरा बन जाता है हालांकि जैसा कि ऊपर के विश्लेषण से प्रकट है, प्रसाद की कविता एक गहरे अर्थ में इस परिभाषा को प्रतिफलित करती प्रतीत होती है। जहाँ तक यह परिभाषा भारतीय चिन्तन और भारतीय काव्य-परम्परा की उपज है हम देखते हैं कि यह 'मानवीय' से ज्यादा 'आदर्शात्मक' अधिक है। काव्य की अनेक 'प्रकृत' भूमियों को इस परिभाषा में निहित 'आग्रह' छाँट-छिनगाकर बहिष्कृत कर देता प्रतीत होता है। हम समझ नहीं पाते कि 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' काव्य की उतनी ही स्वाभाविक और जायज़ प्रेरणा क्यों नहीं बन सकती? ऐसा आग्रह क्यों? हमें तो ऐसा लगता है कि पश्चिम के काव्य की अपेक्षाकृत अधिक मानवीय समृद्धि का कारण यही है कि वहाँ ऐसा कोई आग्रह-निषेध नहीं है। 'आत्मा की विकल्पात्मक अनुभूति' वहाँ के साहित्य में उतनी ही गहरी स्वतंत्रता के साथ सक्रिय है जितनी कि 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति'; बल्कि शायद पहली चीज़ का पलड़ा ही भारी पड़े। हम यही सोचने को विवश हैं कि हमारी दार्शनिक धारणाओं और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं में—हमारी 'भारतीयता' में ही—कुछ घपला है। क्या ऐसी शंका निर्मूल है कि जो उस दृष्टि से जितना प्रति-श्रुत है, जितना ही उसका प्रतिनिधित्व अपनी रचनात्मक द्वारा करता है, उसको यह अन्तर्निहित घपला उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है। कोई अचरज न होगा यदि कोई आलोचक यह फ़तवा दे दे कि प्रसाद की कविता में भारतीय काव्य-परम्परा की सारी खूबियाँ और सारी कमियाँ एक साथ इकट्ठी मिलती हैं। आज की पीढ़ी का कवि और पाठक जब कालिदास और वाल्मीकि तक के काव्यगुणों से तत्काल संवेदित होने में कठिनाई का—दूरी का—अनुभव करता है, तो प्रसाद की कविता से पहले ही सम्पर्क में आकर्षित न हो पाने की स्थिति सहज ही समझी जा सकती है। यूँ भी 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' जैसी सहज-शील परिभाषा से कोई भी बिदक सकता है : प्रसाद को 'विश्वविद्यालयों का कवि' कहने वाला कवि भी। क्या कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनको प्रेम करने और पाने के लिए पहले उनसे ईमानदारी से नफ़रत करना आवश्यक हो जाता है? यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि प्रसाद ऐसे ही कवि हैं। प्रसाद को समझने और प्रेम करने की पहली सीढ़ी शायद यही है कि हम उनसे घृणा करें। कौन जाने, जिसे हम भारतीयता या भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसके साथ भी कुछ ऐसी ही बात हो!

यह एक रोचक कल्पना होगी कि यदि प्रसाद अकस्मात् सशरीर उपस्थित हो

जाते और हम उनको यह संवाद देते कि "महोदय ! न केवल यह कि हमारे कवि ही आपको विश्वविद्यालयों का कवि घोषित करते हैं बल्कि आपके पाठक और आलोचकों की भी राय यही है कि आपको विश्वविद्यालयों से बाहर न निकाला जाय, क्योंकि आपकी सही जगह वहीं है", तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होती ?

मुझे तो यही लगता है कि वे इस संवाद से बिल्कुल विचलित न होते हुए केवल मुस्करा देते और अपनी ही कविता की एक पंक्ति की ओर चुपके से इशारा कर देते—

"यह विडम्बना ! अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं !"

२

चार छायावादी कविताएँ और उनके कवि

मेरे सामने 'छायावाद' के चार कवि—बल्कि कहना चाहिए उनकी चार कविताएँ
निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' (१९२१), पंत की 'सन्ध्या' (१९३०), महादेवी की
'धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी"··· और जयशंकर प्रसाद की 'मधुर माधवी
मे जब रागारुण रवि होता अस्त'···('लहर' मे संकलित)। मात्र एक ऊपरी
-साम्य की दृष्टि से उठा ली गयी ये कविताएँ इन कवियों का पूरा प्रतिनिधित्व
करें—शायद नहीं ही करतीं; तो भी इनको इस तरह आमने-सामने रखकर
और पढ़ने की प्रेरणा हुई, तो इसीलिए कि शायद यह भी एक तरीका हो सकता
कविताओं के पीछे कार्यरत अलग-अलग कवि-स्वभावों और क्षमताओं की विशिष्टता
पहचानने-समझने का। शायद इसी बहाने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए हम इनकी
तुलना भी कर सकते हैं। आवश्यक नहीं कि इतने छोटे दायरे का तुलनात्मक
ण हमें आलोचनात्मक न्याय के उस धरातल पर पहुँचाए ही, जहाँ मूल्यांकन
विश्लेषण की एकाग्रता में से ही उभरने लगते हैं। मैं तो फिलहाल अपने ही
जिज्ञासु पाठकों की कल्पना कर रहा हूँ जो मेरे साथ-साथ इन कविताओं को
हैं और अपने अनुभवों को, संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को अलग-अलग करके
की कोशिश कर रहे हैं—ताकि बाद में वे उन्हें एक अधिक सचेत, अधिक
संप्रेषण दे सकें और अनेक अर्धचेतन उलझे हुए अहसासों को किसी कदर
र अधिक ज़िम्मेदार, अधिक विवेकप्रेरित निर्णयशीलता में विकसित होते
।

यह तुलना मात्र मूल्यांकन के लोभ से प्रेरित नहीं है, यदि यह नितान्त अनधिकृत
ने इसकी सार्थकता स्पष्ट है। किन्तु पद्धति? क्या यह दोषपूर्ण नहीं हो
क्या उसकी प्रामाणिकता स्वत सिद्ध है। प्रारम्भ में ही यह स्वीकार लेना

आवश्यक है कि ऐसी किसी विशेष 'पद्धति' का ज्ञान अपने को नहीं है। मात्र कुछ धुंधली प्रतीतियाँ—अटकलें हैं और अपने ही जैसे कुछ सहयोगी पाठकों की उपस्थिति का काल्पनिक आश्वासन; जो कि इस पद्धतिविहीन पद्धति में से सहज अपनी रीझ-बूझ के सहारे मुझे रोकते-टोकते, समझते-बूझते गुज़र रहे हैं। यह मानकर चलने की सुविधा मुझे है कि ऐसे पाठक के सामने ये कविताएँ मौजूद हैं और न केवल यही कविताएँ; क्योंकि, विश्लेषण के दौरान जो प्रश्न उठेंगे, उनके लिए हमें इन कवियों की दूसरी कविताओं का प्रकरण खोलना पड़ेगा। दरअसल ये कविताएँ प्रारम्भ बिन्दु की तरह होनी चाहिए—अपेक्षित एकाग्रता को सिद्ध करने के लिए। यह सिद्ध हो जाए तो स्वभावतः हम इन्हें इन कवियों की दूसरी कविताओं से भी आलोकित देखना चाहेंगे।

एकाधिक बार पूरी कविता में से गुज़र चुकने के बाद ही, जो कुछ हमें इस दौरान होता है, उसको अलगा कर स्पष्ट करना, उस पर सोचना सार्थक होता है। कविता को अपने भीतर पूरी तरह संक्रमित होने देने के बाद ही हम अपने अनुभव, अपने 'आस्वाद' के कारणभूत तत्त्वों पर विचार करने की स्थिति में होते हैं: उन साधनों पर एकाग्र होने लगते हैं जिनके द्वारा यह कविता हम तक पहुँचती है। तब हम पाते हैं कि एक कवि ऐसा है जिसकी कविता में ये साधन बड़ी आसानी से पहचान में आ जाते हैं मानो वे भाषा की, कविता की सतह पर ही मौजूद हों और खुद ही पुकारकर हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे हों। दूसरी ओर, दूसरे कवि की कविता ऐसी होती है जिसकी कला छिपी रहती है; परदे की ओट होती है, आसानी से पकड़ाई नहीं देती। और फिर भी कमाल यह, कि यह परदे के पीछे रहने वाली कला ही हमें कवि से ज़्यादा घनिष्ट बनाती है, उससे जटिल भाव-जगत् का ज़्यादा परिपूर्ण साधारणीकरण कराती है। यह विरोधाभास! ...प्रसाद की एक पंक्ति स्मरण हो आती है:

आवृत हो अतीत सब मेरा
तूने देखा सब कुछ मेरा
पर्दा होने से ...
हृदय के कोने-कोने से

ऐसा लगता है, जैसे कवि स्वयं विरोधाभासों के माध्यम से हमें इस विरोधाभास में निहित सचाई का पता दे रहा है। बहरहाल, इस छिपी हुई कला का संवेदन-निरूपण और विश्लेषण कैसे किया जाए, यह एक विशिष्ट समस्या है जो पहले प्रकार के कवियों के साथ उतनी नहीं आती। यह भावना जो हमें मुग्ध किये दे रही है, यह साधारणीकरण जो हमें एक अजीब-सी मुक्ति का अनुभव करा रहा है, यह एकाग्र पर्युत्सुकता जो हमारे अस्तित्व को सहसा एक नये अर्थ से आलोकित कर देती जान पड़ती है—हमारी वैयक्तिक, नितान्त वैयक्तिक जीवनानुभूति के इस पहलू को पकड़ता हुआ यह कैसा शब्द-संयोजन हममें यह सटीक उत्तेजना पैदा कर रहा है जो कवि का अभीष्ट है? शब्दों की कैसी संयोजना, वाक्य-विन्यास की कौन-सी शालीनता, लय की किस भंगिमा, बिम्ब की कैसी विशिष्टता के द्वारा यह सब संभव हो रहा है? ...कविता के प्रथम संवेदनाघात में यह सब हमें नहीं सूझता; किन्तु अब सूझता है, तब—बात के

पाठों में भी, जितना संश्लिष्ट, जितना सघन हमारा यह 'बोध' होता है, उसका सतर्क विश्लेषण कर सकना उतना ही कठिन लगता है। जितना ही आन्तरिक यह अध्ययना-नुभव होता है, उतना ही उसको प्रकाश में ले आ सकना दुष्कर जान पड़ता है।

किन्तु यहीं पर एक दूसरी बात भी दिमाग में आती है। स्वयं कवि के सामने भी क्या यही समस्या एक दूसरे स्तर पर पेश नहीं होती होगी ? जो भीतर है, जटिल गुत्थी की तरह अस्पष्ट और अतर्क्य और बेज़ुबान है उसको मन के अँधेरे कोनों से खींचकर चेतना के उजाले में लाना और उस भाषा में व्यक्त करना, जो कवि के निजी अन्तर्मन की तरह गोपनीय और व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक उपयोग की चीज़ है ! '''क्या यह प्रक्रिया स्वयं अपने-आप में किसी कदर विश्लेषण और पुनःसंश्लेषण की ही प्रतिक्रिया नहीं है ? भाषा का प्रयोजन ही क्या मन की गाँठ खोलना नहीं है ? कविता शायद अधिक उलझी हुई गाँठ को खोलने का उपक्रम है और वे उलझनें भी शायद अधिक गहरी, अधिक देशकाल में फैली हुई होती हैं—इसी से न उनका खुलना, बल्कि उनकी पहचान तक हमें अधिक तोषप्रद, अधिक मुक्तिदायी अनुभव होती है ? लेकिन सब प्रश्नों का प्रश्न यह है कि क्या हम कवि के शब्द-संयोजनों का उसी स्तर पर, उसी एकाग्र दबाव में से, अपने भीतर और बाहर की उतनी ही दूरी तय करने के बाद ग्रहण कर रहे हैं ? क्या हमारे भीतर भी एक ओर जीवनानुभूति और जीवन-बोध की जटिलता के समानान्तर विकसित होता वेदन-तंत्र और दूसरी ओर उसको संतुलित करने वाले मानसिक तत्त्वों का वैसा सवेदनशील विवेक सक्रिय है ? जिस अनुपात में कवि कवि है, उसी अनुपात में उसके शब्द कमाये गये शब्द हैं। क्या उतनी ही संवेदना, उतनी ही अनुभव-परिपक्वता का मोल हमने भी चुकाया है कि वे शब्द हमसे भी उतने ही आत्मीय और घनिष्ठ हो सकें ?

शब्द, भाषा आखिर क्या है ? वह कई विशिष्टताओं और सामान्यताओं का गुणनफल है, मिश्रण है। जिस प्रकार जीवन-स्थितियों के प्रति मौलिक ढंग से प्रतिक्रिया कर सकने वाले व्यक्ति विरले होते हैं वैसे ही शब्दों की कुल जीवनी-शक्ति में से, उनकी अनेक स्तरीय अर्थसंकुलता में से अपनी विशिष्ट जिजीविषा को, विशिष्ट अनुभव-संवेदनों को निचोड़ लाने वाले लोग भी कम ही होते हैं। ज़्यादातर लोग हममें से दोनों ही जगह आसान रास्ता अख्तियार करते हैं। रूढ़ि और अभ्यास की लीकों पर ही हम जीवन का और वाणी का भी ग्रहण और उपयोग करते हैं। कविता शायद हमारी इस अभ्यस्ति को झकझोरने के लिए ही है। 'हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा है'—यह कथन जितना सामान्य लगता है, उतना है नहीं। सामान्यतः हमारा दैनन्दिन जीवन जिस स्तर पर चला करता है, वह न हृदय की मुक्तावस्था है, न मस्तिष्क की। हम अपने किसी भी आचरण के क्षण में ज़रा सचेतन होकर और करें तो हमें ऐसे अनेक बन्धनों और पूर्वाग्रहों का पता चलेगा जिनके हम बुरी तरह अभ्यस्त हैं, जो इतने सुविधाजनक और सुरक्षित हैं कि हम कभी उन पर उस तरह सोचते ही नहीं क्योंकि इस तरह की आत्म-चेतना कष्टप्रद होती है। हमारे अनेक विश्वास और रुचि-निर्णय भी इसी आसानी की उपज हुआ करते हैं। क्या हम सचमुच उन्हें अपने व्यक्तिगत मन और वस्तुगत वास्तविकता की कशमकश में से [illegible] ?

इसीलिए इस सम्बन्ध में आश्वस्त हो जाना जरूरी है कि जिस उनींदे अभ्यास और परितुष्ट अहम्मन्यता के स्तर पर हम अपनी जीवन-स्थितियों में प्रतिष्ठित होते जाते हैं, कहीं उसी स्तर पर हम कवि की कविता में प्रयुक्त शब्दों के प्रति भी आचरण न कर रहे हों। भाषा आखिर एक सामान्य और दक्ष जीवन-व्यापार का, या कि उस तरह एक सामान्य रूढ़िग्रस्त शब्द-व्यापार का ही यंत्र तो नहीं है। वह जीवन के द्वारा मनुष्य को, और मनुष्य के द्वारा जीवन को दिये गये अर्थों की जीवित परम्परा भी तो है। एक सम्पूर्ण, वैविध्य-भरे मानव-समुदाय के सरल-जटिल—हर प्रकार के अनुभवों की प्रवहमान स्मृति भी तो है। जब एक जटिल और वलिष्ठ संवेदना का व्यक्ति (कवि) शब्द के पास अपनी परिभाषा, अपनी मुक्ति—अपनी अभिव्यक्ति—माँगने आता है, तब वह भाषा की इसी स्मृति-परम्परा, इसी स्वाभाविक अर्थ-संकुलता के प्रति ही तो उन्मुख होता है। इस बात को यों समझें कि एक गहन संवेदना और प्रौढ़ मस्तिष्क वाला व्यक्ति संवाद के लिए एक समानशील व्यसनी व्यक्ति को ही खोजेगा। मान लीजिए, वह एक सरल और सपाट जीवन-चेतना वाले व्यक्ति से जा टकराता है, तो क्या परिणाम निकलेगा? कोई संवाद इधर से उधर नहीं बहेगा। जटिलताएँ सरल नहीं, बल्कि सरलीकृत, कुन्द हो जाएँगी। एक अनुभव दूसरे अनुभव से टकरा-कर अर्थ की गूँज पैदा नहीं करेगा। इसके विपरित जटिलता जब जटिलता से टकराएगी तो अर्थ की सृष्टि होगी; यह नहीं कि जटिलता सरल हो जाएगी। वह केवल अपने संचरण के लिए, अपनी सार्थक क्रियाशीलता के लिए अधिक उन्मुक्त अवकाश पा जाएगी। जटिलता जटिलता से परिभाषित होगी, तीक्ष्ण और प्रखर होगी।

कुछ-कुछ ऐसा ही रिश्ता कवि और भाषा का (कवि और पाठक के बीच भी, जैसे) भी समझा जा सकता है। सिर्फ यहाँ पर दो जटिलताओं के बीच की टकराहट और उससे निष्पन्न सार्थकता का विचार और भी चरम और आत्यन्तिक रूप ग्रहण कर लेता है। एक छोर पर कवि की जटिलता है: उसके व्यक्तिगत अन्तर्जीवन और परि-वेश की, समसामयिक चिन्तन-धाराओं और घटना-प्रवाहों की भरपूर रगड़ से उत्पन्न जटिलता, जिसे उत्पन्न करने में स्वयं भाषा का भी अप्रत्यक्ष हाथ है। यह जटिलता अपनी सम्पूर्ण आकृति गढ़ना चाहती है और शायद इसीलिए बार-बार (भाषा में से) अवतार लेना चाहती है। अब यह तो स्पष्ट ही है कि कवि इस जटिलता का जनक ही नहीं (क्योंकि यह श्रेय तो उसके परिवेश को, वंश-परम्परा को, जातीय इतिहास को, उसके मित्रों-शत्रुओं-प्रियाओं को, उसके द्वारा सीखी गयी विद्याओं को तथा स्वयं भाषा को भी उसी हद तक दिया जा सकता है), उसका माध्यम भी है। बल्कि गौर से सोचें तो ऐसा लगता है कि जितनी ज्यादा चेतना इस 'माध्यमत्व' की उसमें जगने लगी, उतनी ही सीमा तक वह रचनाकार होने लगा। जैसे कि उदाहरण के लिए हम देखते हैं जिस आदमी के अपने व्यक्तित्व के गुणों का, अपनी सज्जनता का अहंकार जितना ही क्षीण, जितना ही कम सक्रिय होता है, उतना ही उसे 'अच्छे आदमी' की संज्ञा प्राप्त होती है। यह माध्यमत्व की चेतना ही वह 'जटिलता' है जो अपनी अभिव्यक्ति, अपना उन्मोचन माँगती है। यह जटिलता निश्चय ही, स्पष्ट ही, व्यक्तित्व से बड़ी है। यह आदमी

की अहंचेतना पर चारों ओर से दबाव डालती है : उसके मात्र व्यक्तित्व को 'अस्तित्व' से संतुलित और विस्थापित करती है। कोई कर्मक्षेत्र ऐसा नहीं जो इस जटिलता को पूरी तरह खपाकर सार्थक कर सके, कोई सफलता ऐसी नहीं जो इसे चुका दे। सफलता के सूत्र होते हैं; सार्थकता के नहीं। जटिलता सूत्रों में नहीं बँधती, उनसे छन कर निकल जाती है। उसे झेलने के लिए, अभिव्यक्त कर सकने के लिए उसी वज़न की, उससे भी बड़ी जटिलता चाहिए।

यह गुण, यह सामर्थ्य होता है भाषा में। कवि के बोध की तरह भाषा का जीवन भी अनेकस्तरीय होता है। उसमें एक ओर तो समसामयिक 'जगत-गति' का, समसामयिक विचारधाराओं का स्पन्दन होता है और दूसरी ओर—उस भाषा को अब तक जितनी पीढ़ियों की जिजीविषा ने रचा है, जितने कवियों ने गढ़ा है—वह सारा संस्कार भी उसमें मौजूद रहता है। कवि की कवि के नाते समस्या यह होती है कि वह कैसे भाषा की सतह को उसकी गहराइयों से जोड़े, कैसे अपनी जटिलता के समानुरूप अवयवों को उस विराट् मिश्रण में से अलगाए और इस प्रकार पुनःसयोजित करे कि यह पुनःसंयोजन, यह सश्लेष उसके भीतर की जटिलता का समकक्ष और समतुल्य हो जाए। जाहिर है कि यह समकक्ष सयोजन उसे आसानी से नहीं मिलता—उसे आविर्भावित करने के लिए उसे भाषा से जूझना पड़ता है; शब्द की संयोजकता को बदलना पड़ता है; लय और वाक्यविन्यास का मौलिक ढंग विकसित करना पड़ता है। तभी शब्दों का जटिल जीवन उसकी जटिलता से प्रतिक्रिया करेगा और अर्थ का उन्मेष होगा।

प्रस्तुत कविताओं का अध्ययन करते हुए हम पाते हैं कि इनमें से प्रत्येक के प्रति हमारी प्रतिक्रिया अलग-अलग स्तरों पर घटित हो रही है। पंत और महादेवी की भाषा का अनुभव एक प्रकार का है; निराला का दूसरे प्रकार का, और प्रसाद का कुछ और भिन्न प्रकार का। ऐसा क्यों है, यह जानने के लिए हमें प्रत्येक के वाक्य-विन्यास का, लयात्मक संयोजन के ढंग का, विशेषणों का और क्रियाओं का, तथा बिम्बों का तुलनात्मक विश्लेषण करना होगा।

हिन्दी आलोचना के दो शब्द हैं : विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ। ये बहुत गोल-मोल शब्द हैं, पर हम इनका थोड़ा सहारा लें और पूछें कि पंत जी की यह 'संध्या' क्या है ? विषयनिष्ठ ? व्यक्तिनिष्ठ ? या केवल वाच्य-उद्दिष्ट ? 'कहो तुम रूपसि कौन'··· यह पंक्ति हमें यांत्रिक ढग से 'रूपसि तेरा घन केशपाश' की याद दिला देती है और सचमुच 'सुनहला फैला केश-कलाप' हमें थोड़ी ही देर मे मिल भी जाता है। क्या पहली ही पंक्ति से पंतजी इस 'सध्या' का रूप-गुण निश्चित कर देते प्रतीत नहीं होते ? क्या पहले से ही पाठक की प्रत्याशाएँ एक लीक पर नहीं चलने लगतीं ? पंक्ति का ढंग ही कुछ ऐसा है कि हम कुछ वर्णनात्मक ब्यौरों के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। अगली पंक्ति में जो 'क्रिया' है वह भी विषय के प्रति कवि की कोई खास मौलिक प्रतिक्रिया नहीं उभारती। निराला की सन्ध्या-सुन्दरी भी मेघमय आसमान से धीरे-धीरे 'उतर' रही है। महादेवी की वसन्त-रजनी भी उसी क्रिया और क्रिया-विशेषण के साथ उभरती

है। हाँ, 'मेघमय आसमान' की जगह 'क्षितिज' आ जाता है। पंतजी 'व्योम' चुन
हैं। दोनों ही चुनाव शब्द-मैत्री के लिहाज़ से उपयुक्त हैं। अब देखिए, अगली पंक्ति
'छिपी निज छाया-छवि में आप' और इधर निराला में 'तिमिरांचल में चंचलता का
नहीं कहीं आभास'···, क्या पंत जी की प्रस्तुति अधिक संक्षिप्त और दक्ष नहीं जा
पड़ती ? किन्तु ज़रा और आगे बढ़ें। किसकी 'संध्या' ज्यादा मूर्त और संवेद्य है
पंत जी ये पंक्तियाँ लिखते हुए क्या 'संध्या' के, या अपने साथ हैं ? अपने भीतर हैं
क्या उनकी आत्म-स्थिति सचमुच उस दृश्य से सम्पृक्त और अन्तःप्रविष्ट है ? क्या म
दृश्य संवेदन उनकी किसी निजी और विशिष्ट अनुभूति के सहारे उनको पकड़ रहा है
आविष्ट कर रहा है ? निराला की पंक्तियाँ हैं :

> तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
> मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
> किन्तु ज़रा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास

ये पंक्तियाँ हमारे अपने मानवीय अनुभव को टटोलती हैं। उससे जुड़ती और
अर्थ पाती हैं। हमारा ध्यान अलग-अलग शब्दों पर नहीं जाता—अपनी एक विशिष्ट
लयात्मकता के कारण ये पंक्तियाँ हमारे मन को पकड़ती हैं और एक मानवीय बिम्ब
अनायास उभर आता है। हम 'संध्या' को अपने भीतर भी उतना ही महसूस कर रहे
थे जितना अपने बाहर। संध्या हमारी मनुष्यता—मानवीय भावना के रंग में रंग
जाती है और फिर भी एक विशिष्ट काल की 'संध्या' बनी रहती है। अपना व्यक्तित्व
देकर भी नहीं खोती। वह अलग, असम्पृक्त एक दृश्य-विषय ही नहीं—हमारी अनुभूति
का विषय भी बन जाती है। क्या पंत जी की सन्ध्या ऐसा कोई मार्मिक और विशिष्ट
अनुभव देती है ? या कि वह महज़ एक काव्य-विषय का दक्ष निर्वाह भर है ?

> कहो तुम रूपसि कौन ?
> व्योम से उतर रही चुपचाप
> छिपी निज छाया-छवि में आप
> सुनहला फैला केश कलाप
> मधुर, मंथर, मृदु मौन

अन्तिम पंक्ति की—पूरे अवतरण के बन्ध को समेटती—उसे पूर्ण विराम-सी देती—अन्तिमता बड़ी सार्थक और औचित्य लगती है। यह कवि के निपुण काव्य-शिल्पी होने की सूचना है। किन्तु क्या इस पूरे छंद की अभिव्यक्ति उतनी आन्तरिक, वैसी विशिष्ट है जैसी हम निराला में देखते हैं। लय और भावना का, गति और प्रेरणा का वैसा सामंजस्य क्या हम यहाँ भी अनुभव होता है ? हमें पंत जी की ही एक और कविता (जो [illegible] में ही संग्रहीत है) की प्रारम्भिक पंक्तियाँ याद आती हैं :

> अब आया जब निश्चल, नीरव—
> आया जल चंचल औ' नीरव
> नीचे नभ पर मृदु संध्याकर

क्यों याद आती है ?···अपनी विशिष्ट लयात्मक उत्तेजना के कारण ? आप, चलिए, इस दूसरी कविता को पूरा पढ़ जाइए। आपको लगता नहीं, कि यह टुकड़ा कुछ अलग पड़ जाता है, मानो असली कवित्व यहीं हो। शेष कविता इस उत्तेजना से कट क्यों जाती है ? नहीं लगता कि इन पंक्तियों का लयात्मक वैशिष्ट्य प्रत्यक्ष प्रेरणा-प्रसूत है; जब कि बाद में कवि का पक्ष विचार पर उतर आता है और कविता पर सीधी ऐन्द्रिकता की, सीधे 'संसेशन' की पकड़ ढीली हो जाती है।

हम सोचने लगते हैं कि क्यों इन पंक्तियों में वह लयात्मक सच्ची उत्तेजना है जो कि 'संध्या' में गायब है। इसका क्या कारण है ? यह उत्तेजना कहाँ से आती है ? क्या इसका अर्थ यह नहीं कि पंत जी की वास्तविक संवेदन-क्षमता का क्षेत्र बहुत ही सीमित है ? बहुत कम वस्तुएँ ऐसी हैं जो उनके भावयंत्र को सचमुच छू सकती हैं, झनझना सकती हैं। वे क्या हैं ?

पंक्तियों पर गौर कीजिए। इनकी प्रभावशीलता किस कारण से है ? क्या किसी तीव्र भावावेश के कारण ? क्या मानवीय संवेदना की किसी वेधक अन्तर्दृष्टि के कारण ? जीवन की कोई मार्मिक आलोचना ? परात्परवेदा की अनुभूति ? या कोई गहरा आत्मसाक्षात्कार ? नहीं, यह सब यहाँ कुछ नहीं। एक विशिष्ट चाक्षुष संवेदन है, जिसको कवि ने उसकी जीवन्त, सदाबहार ताज़गी में पकड़ लिया है, प्रत्यक्ष कर दिया है। पंतजी मानसिक तादात्म्य माँगने वाली स्थितियों के कवि नहीं हैं, आत्म-विस्मरणकारी भावावेगों के, तीव्र वेधक अनुभूतियों के कवि नहीं हैं; वे आत्मालोचन, आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार के भी कवि नहीं हैं; प्रचण्ड प्राणशक्ति, दुर्दम्य जिजीविषा के कवि नहीं हैं; न उस तरह किसी विशिष्ट आध्यात्मिक या धार्मिक संवेदना के। नहीं, यह उनका क्षेत्र नहीं है। वे ऐन्द्रिक संवेदन के—खासकर चाक्षुष संवेदना के कवि हैं। ऐन्द्रिक को अतीन्द्रिय से जोड़ने वाली प्राणशक्ति और वेदन-तंत्र उनके पास नहीं है। किन्तु जहाँ आँख से वस्तुओं की वस्तुमत्ता को, वस्तुओं के सौन्दर्य को पकड़ा जाता है वहाँ से समस्त छायावादी कवियों के बीच अकेले और अप्रतिम हैं। सृष्टि के भीतर, मनुष्य के भीतर भी उनकी पहुँच और डूबन आँख भर ही है। यही उनकी सीमा है और यही उनकी औरों से विलक्षणता, विशिष्टता भी। इस बात की ओर अधिक पुष्टि आप चाहें तो उनकी 'ग्राम्या' में एक कविता है, 'वह बुड्ढा'; उसकी तुलना निराला के 'भिक्षुक' से करके देख सकते हैं। निराला में भावात्मक उलझाव अधिक है किन्तु पंत में यह कमी इस कविता के प्रसंग में खलती नहीं। जिस 'बौद्धिक दूरी' का उल्लेख पंत ने 'ग्राम्या' की भूमिका में किया है, वह विवशता अधिक है; वरण कम। किन्तु क्या हम इसीलिए उन्हें साधुवाद नहीं देते। भावनात्मक उलझाव होता तो ये ताज़े-टटके, एक-एक विवरण में प्रत्यक्ष और संवेद्य चित्र कहाँ से आते ? कैसे आते ? इसी कविता को लीजिए : पंत तटस्थ हैं तो क्या इसी लिए वे ज्यादा देख और दिखा नहीं रहे हैं ? और क्या यह तटस्थ-चित्रण कवित्व की दृष्टि से निराला की अपेक्षा हीनतर प्रभाव छोड़ता है ? निराला अपने आवेग की तीव्रता में अधिक क्षिप्र प्रभावाङ्कन कर गये हैं : यों उनकी दो ही पंक्तियाँ 'पेट-पीठ

दोनों मिलाकर हैं एक। पर रहा मुट्ठिया टेक' इस दृष्टि से—वास्तुपरक प्रत्यक्षीकरण की दृष्टि से भी—पंत जी की आठ पंक्तियों के बराबर हैं; किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि पंत जी के विवरण अनावश्यक हैं। नहीं, कतई नहीं। वे आवश्यक हैं। कविता के अंग हैं। इसीलिए कि वे सचमुच आँख से निरीक्षित और आत्मसात् किये गये हैं, इसलिए कि उनमें अतिरिक्तता नहीं है; अतिरिक्त प्रभाव डालने या भावुकता उभारने के लिए वे निश्चय ही वहाँ नहीं रखे गये। बात यह है कि पंत की कल्पना चित्र-तत्त्व से ही उत्तेजित होती है। जीवन की उनकी पकड़ चित्रात्मक ही है। ज्यादा-तर वे प्रकृति के चित्रों में ही रमते हैं किन्तु जब कभी मनुष्य या कोई सजीव समूह भी अपनी चित्रात्मक सजीवता से उनकी कल्पना को पकड़ लेता है तो वे हमारी सामान्य अपेक्षाओं को लाँघकर कुछ ठोस और स्मरणीय रच जाते हैं। निराला में (चाहे मन:स्थिति आत्मनिवेदन की हो; चाहे आत्मदया की; चाहे सीधी परदुःखकात-रता की, परात्म प्रवेश की) भक्त कवियों जैसी तन्मयता और विह्वल आवेगात्मकता है; प्रसाद थिराए हुए आवेग की प्रशान्त बोधशीलता के कवि हैं; पंत न इधर हैं, न उधर। उनके अन्तःकरण का आयतन बहुत-बहुत संक्षिप्त है। फिर क्या बात है कि हम एकाएक निर्णय नहीं कर पाते कि इन दो कविताओं में किसका पलड़ा भारी है: निराला का या पंत का? दोनों के समापन देखिए—किसे अधिक सफल सार्थक कहें?

> ठहरो, अहा! मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा
> अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
> तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा

यह है वस्तु से सीधे मानसिक तादात्म्य की कविता। अब सुनिए, पंतजी को—

> काली नारकीय छाया निज
> छोड़ गया वह मेरे भीतर
> पैशाचिक सा कुछ दुःखों से
> मनुज गया शायद उसमें भर

निराला की पंक्तियों से सीधे इन पंक्तियों में उतरते कैसा लगता है? प्रथम प्रतिक्रिया में क्या यह नहीं लगता कि कवि को इस मानवीय बोध ने गहरे में बिलकुल विचलित नहीं किया है? उसे तो जैसे यह मानवीय उपस्थिति अपने सौन्दर्य-सुख के स्वप्न में अवांछित विघ्न की तरह लग रही है। मेरी सौन्दर्य-रस निमग्न मानसिकता के स्वर्ग में यह कैसी नारकीय छाया छोड़ गया!···मानो कवि अपने सौन्दर्य-लोक को ऐसे 'प्रतिकूल-वेदनीय', रसघातक दृश्यों की छाया तक से बचाना चाहता हो!

किन्तु सचमुच क्या इन पंक्तियों से यही ध्वनित होता है? ऐसा नहीं लगता कि प्रथम दो पंक्तियाँ कवि की वास्तविक मन:स्थिति को व्यक्त करने के साथ-साथ उस पर जबर्दस्त व्यंग्य भी कर रही हैं? और कवि नितान्त आत्मचेतन होकर यह बात कह रहा है। यदि ऐसा है तब तो तसवीर ही बदल जाती है। कलात्मक निस्संगता कवि की शक्ति बन जाती है और अगली पंक्तियाँ सचमुच एक कमाया हुआ

त विचार—बल्कि साक्षात्कार—बन जाती हैं। और इस प्रकार यह उपसंहार
ता के उपसंहार से कम सार्थक और कम वजनदार नहीं लगता।

कहने को कोई यह भी कह सकता है कि जहां तक उस विचार का प्रश्न है वह
राला में और भी अन्त:सलिल ढंग से निहित है: निराला जब अपने हृदय के
से भिक्षुक के हृदय को सींच देने की बात कर रहे हैं तब उनका भी तो आशय
है। बल्कि उनके आशय में तो और भी ज्यादा कविता है—'अमृत' शब्द की
हन स्वतन्त्र हैसियत के कारण; कवि के हृदय का अमृत कोई देवताओं वाली
ता का द्योतक थोड़े ही है। वह तो मर्त्य मानव की मानवीय गरिमा को प्रतिष्ठित
वाला अमृत है। और निराला ने भी जिस दु:ख को अपने हृदय में खींच
ी बात कही है, वह वही दु:ख तो है जो भिक्षुक की मानवीय गरिमा को नष्ट
र रहा है। तो पंतजी ने ऐसी कौन-सी मौलिक बात कह दी कि हमें वह उस
ः मानवीय स्थिति का जीवन्त साक्षात्कार प्रतीत हो। वह तो एक निष्कर्ष भर
कायदा तौर पर कविता के जीवन में से नहीं फूटा है: बाहर से उस पर थोपा
गता है।

जो भी हो, कविता के मर्मज्ञ पाठक जो भी निष्कर्ष निकालें, मुझे इस विवाद
कना नहीं है। मुझे तो यही पर्याप्त संतोष का कारण लगता है कि दो अलग-
ास्तों से दो कवि एक बिन्दु पर पहुंच रहे हैं। यह सच है कि निराला उस बिन्दु
अतिक्रान्त कर जाते हैं; किन्तु पंत में भी यह बिन्दु अनधिकृत रूप से नहीं
कम-से-कम यह पंत के काव्य-शिल्पी की सामर्थ्य तो सूचित करता है। चूंकि
वना में, उनके काव्य-विषय में, उनकी चित्र-कल्पना को उत्तेजित करने की निहित
'सन्ध्या' की अपेक्षा अधिक थी, अत: उनकी पकड़ भी कविता पर बनी रही।
ा नहीं हो पाता, जहां यह सुविधा—अपनी सामर्थ्य के एकमात्र क्षेत्र में
होने की सुविधा—उन्हें नहीं मिल पाती, वहां उनकी कल्पना अनुत्तेजित रह
और तब उपयुक्त भावोद्वेलन के अभाव में, जीवन-जगत् सम्बन्धी किसी भी
ौर अटल सम्पृक्ति से स्वभावत: रिक्त होने के कारण वे महज इच्छित चिन्तन
ी दर्शनिकता में, वक्तव्य में, अलंकरण में व्यस्त हो रहते हैं। 'वह बुड्ढा' में
है। यहां पंत की तटस्थता भी उतनी ही 'कलात्मक' और सार्थक है, जितनी
के 'भिक्षुक' का सीधा इन्वाल्वमेण्ट।
ण स्वाभाविक और आवश्यक विचलन के बाद हम पुन: उसी कविता पर
हमने इस कविता के छन्द की यांत्रिक, अननिवार्य लयगति को महसूस किया
सका कारण यही सोचा था कि पंतजी यहां अपनी जमीन पर नहीं हैं।
उनके अन्दर कोई विशिष्ट भावोन्मेषन पैदा नहीं किया है; न वे उसके
तरह तदात्म हो सके हैं जिस तरह निराला अपनी... के साथ
हो सके हैं। इसी कमी के कारण पंतजी के शब्द-विन्यास में भी कोई
नहीं उभर पाई है। विशेषणों को ही ...—मधुर, मंथर, मृदु, मौन ...
... किसी ..., विशिष्ट अनुभव के ...

इनका ग्रौचित्य सामान्यीकृत है। ये एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि में से
शब्द हैं, एक सामान बोध में से—जिसे मुक्तिबोध ने 'जड़ीभूत सौन्दर्या
है। आप देख रहे हैं कि निराला को अपना बिम्ब सृजित करने के लिए ए
संकेत पर्याप्त हो गया जबकि पंतजी को पाँच विशेषणों की जरूरत पड़ी।
के प्रयोग में पंतजी सिद्धहस्त हैं किन्तु केवल उन्हीं कविताओं में जो उ
जमीन है—प्रकृति-वर्णन की।

इसी क्रम मे हम महादेवी की कविता पढ़ें तो लगता है कि उनकी
स्वाद और बनावट कुछ-कुछ पंत जी जैसी ही है। इतना जरूर मानना
महादेवी के छन्द की लयगति उनके शब्दों के अर्थ के साथ घुली हुई जान प
किन्तु यह लयगति गीत की है; हमें ऐसा नहीं लगता कि वास्तविक गं
(लिरिक) के विविध और जटिल अनुभव-संवेदनों से इस प्रकार की लयात्म
निपट सकती है। निराला की तुलना में यह संवेदना निश्चय ही कम स्व
लचीली है; यांत्रिक चाहे उसे न कहें क्योंकि उसमें भावमयता, एक प्रकार की
तो है ही—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी
तारकमय नव वेणीवन्धन
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी
पुलकती आ वसन्त-रजनी

महादेवी की कविता सामान्यतः पंतजी की कविता की अपेक्षा कानों को
अच्छी लगती है। किन्तु दो-चार हल्के स्पर्शों से किसी वस्तु के चाक्षुप सौन
मूर्तिमान कर देने की जो शक्ति पंत में है, वह उनमें नहीं है। ऊपर की पंक्ति
जो चित्र है, उसे क्या आप बिम्ब कह सकते हैं ? यह आधुनिक कविता का सौन्द
है, या संस्कृत के आलंकारिक कवियों का ? विशेषणों की यहाँ भी भरमार है,
रम्यता उत्पन्न करने का जिम्मा भी उन्हीं का है। चमत्कार वेणीवन्धन के 'तार
होने मे है; घन अवगुण्ठन के 'रश्मिवलय' होने में है। इससे अगली पंक्ति का सं
जरूर भिन्न है और विशिष्ट है; किन्तु बस उतना ही; आगे प्रसाधन के ब्यौरे
शुरू हो जाते है। नूपुर-ध्वनि 'मर्मर' की है जो हमारे कानों को अनाश्वस्त
जाती है। वह 'सुमधुर' भी है किन्तु यह 'सुमधुर' निराला के 'मधुर-मधुर' की
निश्चित अर्थव्यंजक नही है। वह केवल छन्द की यांत्रिक गति में निरीह ढंग से
हुआ है। 'नुपुर' के अलावा 'किंकिणि' भी है जो 'अलि-गुंजित पद्मों' की है। ये उप
और विशेषण एक कवि-समय के अंग हैं; वास्तविक संवेदन के नहीं। इन शब्दों
[illegible]

भी नहीं है। 'संध्या' के जो गुण और तत्व हमारी ऐन्द्रिकता को स्पर्श कर सकते हैं—अलसता, मृदुता, मौन और छायामयता—वे गिनाये तो पंतजी और महादेवीजी ने भी हैं किन्तु एक विशिष्ट अनुभूति की कौंध में संश्लिष्ट होकर क्या वे हमें यह एक साथ अनुभव करा सकते हैं? प्रकृति को मानवीय और मानवीय गुणों को प्राकृतिक बना सकते हैं—जीवन और सौन्दर्य का अद्वैत बिम्ब निरच सकते हैं?

अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली

इन अन्तिम दो पंक्तियों को गौर से पढ़िए और पंत की 'छिपी निज छाया-छवि में मौन' को स्मरण करिए। शब्द पर्याय मौजूद हैं। सिर्फ़ वह संयोजन गायब है, वह भुजगता और त्वरावेग गायब है जो कवि के मानवीय संवेदन और सौन्दर्य-संवेदन के ऐक्य से से आता है।

और थोड़ा आगे बढ़ें पंतजी की कविता में—

मूँद अधरों में मधुपालाप, पलक में निमिष, पदों में चाप
भाव-संकुल, बंकिम-भ्रू, मौन केवल, तुम कौन
पोत निर्यंक, चंचल-द्युति गात, नयन मुकुलित नत मुख जलजात
देह-छवि छाया में दिन रात, कहाँ रहतीं तुम कौन

इत्यादि-इत्यादि'''। ये पंक्तियाँ कविता को आगे नहीं बढ़ातीं। कोई नया भाव या विचार उनमें नहीं जुड़ता। विवरण भर जुड़ते हैं। निश्चय ही 'मूँद अधरों में मधुपालाप' महादेवी जी की 'अनिगुंजित पदों की रिंगिनि' की अपेक्षा ज्यादा अर्थसंकेतक और औचित्यपूर्ण है। मात्र रीतिनिर्वाह से आगे बढ़कर यह 'चित्र' है। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेवी की प्रमुख प्रेरणा काव्य की नहीं, चित्र की है। उन्हें अपना चित्र पूरा करना है। उनके शब्दों का औचित्य भी उतना भर—मात्र चित्रात्मक का—है। यह बिम्ब-निर्माण नहीं है, चित्रकाव्य है जो कि अपने काव्यशास्त्र में भी कोई खास सम्मानित नहीं है। इससे कवि की एक प्रकार की 'सुरुचि' और शालीनता का तो आभास मिलता है। किन्तु उनके व्यक्तित्व की अन्य किसी विशेषता का प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। न उनकी चारित्रिक [illegible] का, न उनकी अनुभूति-क्षमता का। कोई सार्थक मानसिक तनाव भाषा के साथ—केवल या [illegible] पर—उभरा नहीं उभर पाता। कविता जीवनानुभूति में से उत्तीर्ण होकर नहीं आती। इसी कारण भाषा भी अपने सबसे ऊपरी स्तर पर ही कार्यशील हो जाती है। [illegible] से कविता वह एक शब्द-क्रीड़ा है जो चमक और चिकनाहट प्राप्त कर जाती है। भाषा के साथ कवि किसी प्रामाणिक अर्थवत्ता को लेकर नहीं आ रहा, [illegible]। ऐसी रचना में शब्द [illegible] होने लगते हैं: उतने ही चमकीले, उतने ही पारदर्शी, [illegible] नहीं। [illegible], उतना ही

निरीह और शालीन आचरण करते हैं। महादेवी जी अपने शब्दों के चयन में सुरुचि का, सुघरता और मितव्ययता का प्रमाण अवश्य देती हैं किन्तु उनमें ताजगी नहीं होती। वे कर्म के कोलाहल से, विचारों की उलझनों से, वास्तविक अनुभवों और संघर्षों के सुगुन से सुरक्षित शब्द हैं और उनका मूल सौन्दर्य भी कभी-कभी अतिपरिचय के कारण बासी अनुभव देने लगता है। अक्सर उनकी कविताएँ जीवित अनुभूतियों-आवेगों के द्वारा कम, और शब्दार्थों-ध्वनियों के सुरुचिपूर्ण, विवेकसम्मत विन्यासों द्वारा अधिक बुनी गयी मालूम देती हैं। उनमें सब-कुछ तरल-तरल-सा है, पद्य का आनन्द प्रतिरोधों से भिड़ने और उन्हें अपनी गति से नियंत्रित और परास्त करने का आनन्द है। यह आनन्द हमें निराला सबसे अधिक देते हैं। पंत तक कभी-कभी अपनी श्रेष्ठ कविताओं में हमें ऐसे अनुभव कराते हैं। महादेवी के पद्य में प्रतिरोधों से जूझने का तत्त्व सबसे कम है जिसके कारण उनके काव्य का संगीत एक अजीब एकरसता की प्रतीति कराता है। यह एकरसता उनके गद्य में नहीं है। वर्षों का अन्तराल उनकी कविताओं के स्वाद को घटा देता है। किन्तु गद्य उनका आज भी मुझे मुग्ध करता है। ऐसा क्यों?

कहीं ऐसा इसलिए तो नहीं कि उनका कवि-स्वभाव पद्य की अपेक्षा गद्य में ज्यादा अच्छी तरह ढलता है? जिस प्रकार गद्यगुणों का संगुम्फन उत्कृष्ट काव्य में खप जाता है और अपनी अनिवार्यता का आश्वासन देता है (प्रसाद जी में, जैसे)। उसी प्रकार शायद कुछ काव्यगुण उत्कृष्ट गद्य के निर्माण में सहायक हो जाते हैं। महादेवी के गद्य में उनका काव्यगुण उनके पद्य की अपेक्षा अधिक सार्थक अभिव्यक्ति पाता (मुझे कम से कम) प्रतीत होता है। उनके पद्य में बहुत ज्यादा सरल प्रवहमानता है। यह आसानी से आरोपित व एकरस लगती है। पद्याभिव्यक्ति शायद व्यक्तित्व में कुछ जटिल और अनगढ़ तत्त्वों की माँग करती है जिन्हें पद्य अपनी ताकत से पिघला सके। महादेवी का पद्य ऐसी ऊर्जा का आश्वासन नहीं देता। शायद उनके स्वभाव में अनगढ़, अतर्क्य कुछ भी नहीं है जिसके साथ संघर्ष करता हुआ उनका पद्य अपनी विलक्षणता स्थापित करे। गद्य में चूंकि स्वभावतः प्रतिरोध बहुत कम होता है, इसलिए व्यक्तित्व सीधा और प्रत्यक्ष मार्ग से सामने आता है। कदाचित् उनके गद्य में पद्य की अपेक्षा अधिक ताजगी, अधिक स्मरणीयता, अधिक मानवीय ऊष्मा और अधिक प्रभावशाली कलाकारिता होने का यह भी एक कारण हो। चूंकि वे अस्तित्व की जटिलता की कवि न होकर आत्म-व्यंजक कवि ही हैं और चूंकि उनके व्यक्तित्व में संस्कारिता, भावना का मार्दव और सौन्दर्याभिरुचि ही प्रधान हैं; आत्म-संघर्ष और विरोधी भावनाओं की उथल-पुथल गौण; अतः उनके काव्य में मानवीय अनुभव, मानवीय उपस्थिति उस तरह सजीव और सक्रिय नहीं हो पाती। पद्य में वे जीवन के, और अपने व्यक्तित्व के मर्म को भी उतने लाघव से नहीं पकड़ पातीं जितना गद्य में। उनका पद्य हमारी सहानुभूति को उस तरह आकर्षित नहीं करता। वह उनका आत्मनिवेदन तो होता है पर हमारे 'आत्म' के साथ आत्मीय नहीं होता। उनके पद्य की सार्थकता उद्गारात्मक है; उनके अपने लिए ही है। जबकि उनका

गद्य उनके पद्य से कहीं अधिक आत्मव्यंजक होते हुए भी हम सबके लिए स
मार्मिक हो उठता है। यह एक ऐसा विरोधाभास है, जिसे समझा जा स
अन्यत्र एक लेख में मैं महादेवी जी के समूचे कृतित्व के आलोक में इस वि
को पकड़ने और समझने की कोशिश कर रहा हूँ। यहाँ पर इतना ही सं
होगा कि महादेवी जी का पद्य काव्य-रूढ़ि से मुक्त नहीं हो पाता, बल्कि
रूढ़ि बनाता चलता है जबकि उनके गद्य में ऐसा नहीं होता।

काव्य-रूढ़ि से, जैसाकि हमने उपर्युक्त विश्लेषण के दौरान देखा,
मुक्त नहीं हैं। साथ ही, जैसाकि हम निराला और प्रसाद से उनकी तुलना
पाते हैं, उनके शब्दों में गूँजने का, अर्थ-विस्तार का अवकाश बहुत कम रहता
शब्दों में जो संचित अर्थ-स्तर हैं, भाषा में संगृहीत होते जाते भावों की जं
है, उसके साथ कोई गहरा, मौलिक संघर्ष इस कवि का नहीं दिखलाई पड़ता
जिस संवेदना को लेकर भाषा के पास आते हैं, वह न तो 'ज्ञान से गहन' है;
से दुर्दम्य। न उसमें मानवीय अस्तित्व की जटिलताओं के अनुभव में से व्य
उत्तीर्ण करने की छटपटाहट है। कवि अपने व्यक्तित्व पर मोहासक्त है
व्यक्तित्व-द्रोही परिस्थितियों में नहीं झोंक सकता। पंतजी आत्म-संघर्ष
स्थितियों को भी ज्यादा देर तक नहीं झेल सकते। कोई न कोई समाधान,
खोज ही लेते हैं।

तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनकी
भी ठीक वही सीमा है जो महादेवी की कविता की है? नहीं। ऐसा नह
सकता।

फिर से उनकी कविता पर लौटें। जहाँ थे, वहीं से आगे—

अनिल पुलकित स्वर्णाञ्चल लोल
मधुर नूपुर ध्वनि खग-कुल रोल
सीप से जलदों के पर खोल
उड़ रही नभ में मौन?

निराला की संध्या काव्य-विषय से ज्यादा व्यक्तित्व-विशिष्ट है, पं
काव्य-विषय है। निराला की संध्या के 'तिमिरांचल' में चंचलता का
नहीं है। पंतजी में भी 'अचल' है, पर वह 'स्वर्णांचल' है और 'लोल' है।
होती है कि यह विशेषण वास्तविक अनुभूति में से कम, एक खास काव
अभ्यस्तता में से ज्यादा आया है। क्या यह शंका ग़लत है?

किन्तु आगे की पंक्ति देखिए। क्या यह केवल एक साधारण
अलंकरण मात्र है? हो भी, तो क्या इसमें एक प्रीतिकर विस्मय नहीं जगत
जीवन्त अनुभूति का स्पर्श, क्या इसमें कवि-कल्पना की ताजगी भी नहीं
पहले मैंने शमशेरबहादुरसिंह के नाम से छपी एक कविता 'सरस्वती' मे
उसकी एक पंक्ति मुझे अभी तक याद है—'पंखों का कोलाहल बजता पग पै
यह पंक्ति निश्चय ही पन्तजी की पंक्ति से ज्यादा प्रभावोत्पादक है क्यो

वेदन को अधिक तात्कालिकता के साथ पकड़ती है किन्तु क्या दोनों पंक्तियों में कोई म्बन्ध नहीं दीखता ? नहीं लगता कि पन्तजी के काव्यशिल्प में कुछ ऐसा मौलिक त्साह है जो अन्य शिल्पी कवियों को भी कुछ प्रेरणा दे सकता है ?

और आगे पढ़िए—'सीप से जलदों के पर खोल, उड़ रही नभ में मौन'…। हालांकि रूपसी संध्या के उतरने की बात कवि पहले ही कह गया है, अब उसके मौन भ में उड़ने की बात कुछ मेल नहीं खाती। यों भी निराला और पन्त की कविताओं में प्रयुक्त क्रियाओं का तुलनात्मक निरीक्षण करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि निराला की क्रियाएँ पंतजी की अपेक्षा अधिक सक्रिय, अधिक सार्थक हुआ करती हैं। किन्तु जिस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो रहा है, वह यह है कि यह पंक्ति चित्र होते हुए भी कुछ-कुछ बिम्ब का स्वाद देती है। क्या कल्पना की यह क्रीड़ा एक सुन्दर उत्तेजना नहीं देती ? यह तभी सम्भव है, जब उत्तेजना वहाँ भी रही हो मूल में। तो कम-से-कम एक क्षेत्र तो ऐसा है जहाँ पंत का कवि उत्तेजित होता है और शब्द के साथ कुछ मौलिक आचरण करता है। निश्चय ही हम यह देखते हैं कि काव्य-शिल्प की एक खास आन्तरिक उत्तेजना इस कवि के पास है। स्पष्ट ही यह उत्तेजना, यह गुण भाषा के साथ कुछ ऐसा भी कर सकता है कि दूसरे कवियों को भी अपने कविकर्म में इससे मदद मिले, प्रेरणा मिले (जैसे एक उदाहरण—चाहे वह नितान्त अवचेतन प्रेरणा हो—हमने ऊपर दिया)। किन्तु क्या महादेवी के काव्य-शिल्प में यह भाषा की व्यंजना-शक्ति को आगे बढ़ाने वाला—और इस नाते दूसरे कवियों के लिए उपयोगी हो सकने का—गुण है ? यह भी एक प्रश्न है ?

निराला की कविता का प्रारम्भ देखिए—'वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी'…। यह 'परी' शब्द निराला को ही सूझा था; पंत और महादेवी को नहीं। मगर जब पंत की उपर्युक्त पंक्ति—'सीप से जलदों के पर खोल, उड़ रही नभ में मौन'—हम पढ़ते हैं, तब क्या यह भाव सहसा इससे नहीं जुड़ता ? निराला 'परी' कहकर भूल गये। उस अनायास उपमा का अधिक 'विशेषण' उन्होंने नहीं किया। उन्हें अपने सौन्दर्य-बोध के एक विवरण पर रुककर उसे विकसित करने की फ़ुर्सत न थी। किन्तु पंतजी उस तरह अपने विषय के साथ सम्पृक्त नहीं हैं, उससे आविष्ट नहीं हैं। न उनके पास कोई वैसा दुर्निवार आवेग-कथ्य है। फिर इन पंक्तियों पर हमारी आँखें क्यों ठहर जाती हैं ? क्या इसलिए नहीं कि 'परी' यहाँ आँख को दिखाई देने लगी है ? और ऐसा भी नहीं कि यह सूझ उनकी अनिवार्यतः निराला से ही प्रेरित हो। उनकी 'बादल' शीर्षक कविता में भी यह उद्भावना मौजूद है।

तो पंतजी एक खास तरह के सौन्दर्य—'सौन्दर्याभिरुचि'—के कवि हैं। यह सौन्दर्य भाव-गांभीर्य या जटिल भाव-संकुलता में से, व्यक्तित्व और अस्तित्व की जीवन्त टकराहट में से आया हुआ सौन्दर्य नहीं, किन्तु इसमें एक प्रकार की निरावेग सरल रमणीयता अवश्य होती है। जीवन-संवेदना से अधिक ये शिल्प-संवेदना के कवि हैं। उनकी प्रत्यक्ष वास्तविक प्रेरणा का सूत्र सीमित और संक्षिप्त है किन्तु वहाँ उनकी … दीखती है। साथ ही उनमें दूसरे कवियों की प्रेरणाओं से संवेदित-प्रेरित होने

का उत्साह भी परिलक्षित होता है जो कि निश्चय ही एक गुण है। इससे उन्हें अपने काव्य-शिल्प की बारीकियों पर एकाग्र होने का, उन्हें निखारने का अवसर मिलता है। कवि-कर्म का यह एक आवश्यक अंग है। इसलिए अपनी प्रत्यक्ष प्रेरणाओं के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष प्रेरणाओं को भी जिस उत्साह और लगन के साथ वे शिल्पित करते रहे हैं, वह दूसरे कवियों के लिए उपेक्षणीय नहीं। पंत और महादेवीजी की इस तुलना से यह तथ्य थोड़ा-बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पंतजी कवि क्यों हैं, और किस प्रकार के कवि हैं।

लय की एकात्मता निराला की विशेषता है। पंक्तियों के प्रवाह में हम 'संध्या' का अत्यन्त आत्मीय और सच्चा अनुभव करते हैं। पंतजी के अमूर्त विशेषण हममें वैसी सहानुभूति नहीं उभारते। वे हमें ठण्डे और निर्जीव लगते हैं। 'मौन केवल तुम मौन' कह देने भर से संध्या की गहरानी शान्ति का अनुभव नहीं हो जाता। इस ठण्डी और बेजान पंक्ति के मुकाबले निराला की प्राणमयी अभिव्यक्ति देखिए—

नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा
नहीं होता कोई अनुराग - राग - आलाप
नूपुरों में भी रुनझुन - रुनझुन नहीं,
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योममण्डल में—जगतीतल में—
सोती शान्त-सरोवर पर उस अमल-कमलिनी दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अतिविस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल तरंगाघात-प्रलय घन-गर्जन जलधि प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल-अनल में—
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप, चुप, चुप'
है गूँज रहा सब कहीं—

पंतजी का वाक्य क्या इतना आवेग, इतना वज़न, इतने लाघव के साथ सम्हाल ले जा सकता है? ···अभी वाक्य पूरा भी कहाँ हुआ? इतनी ही पंक्तियाँ और हैं। निराला की अनुभूति के कितने फलक इस कविता में एक साथ खुलते हैं! सौन्दर्यानुभूति प्रकृति की, मानवीय रस, दार्शनिक अनुभूति—सब एक-दूसरे का हाथ थामे एक-दूसरे को आगे बढ़ाते अप्रतिहत गति से गतिमान् हैं। और पद्य की—मौलिक पद्य की—उस विशेषता को, जिसकी कमी हमने महादेवी के यहाँ अनुभव की थी, उसको यहाँ अच्छी तरह हृदयंगम किया जा सकता है।

और क्या है? कुछ नहीं।
मदिरा की वह नदी बहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,

अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

हमने शुरू में ही कहा था कि इस कविता का जीवन स्वयं 'सन्ध्या' के जीवन से प्रेरित और जीवन्त है बल्कि वह सन्ध्या का जीवन ही है स्वयं। साथ ही यह कवि का उसके साथ तादात्म्य भी है। सन्ध्या कवि के भीतर भी उतनी ही जीवित और सक्रिय है, जितनी बाहर। महादेवी जी की तन्मयता क्या इस कोटि की है?

निराला की कविता अर्थों का सचेत आरोप नहीं है। उसमें अर्थ उन्मुक्त होते हैं। अनुभूति के दबाव में से, भावावेग के संपीड़न में से शब्दों का जैसे विस्फोट होता है। इन शब्दों की नवजात ऊर्जा ही कविता को अर्थ देती है। ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियों में लय की घटती-बढ़ती को, विरामों को देखिए। क्या वे अत्यन्त अनिवार्य और स्वाभाविक नहीं लगते? क्या संध्या का यह गतिचित्र पंत और महादेवी के बँधे-बँधाए छन्दों में सम्भव था?

पंतजी की समापक पंक्तियों पर ग़ौर करें :

लाज से अरुण-अरुण सुकपोल
मदिर-अधरों की सुरा अमोल
बने पावस घन स्वर्ण-हिंदोल
कहो एकाकिनि कौन?
मधुर, मंथर, मृदु, मौन!

यह काव्य है या काव्याभास? नखशिख-वर्णन की यह सावधान चिन्ता, यह दुरगामी क्या दर्शाती है? महादेवी का चित्र तब भी तुलना में कुछ अधिक सजीव और भावयुक्त लगता है। उनके यहाँ जो चित्रांकन हैं उनमें कुछ तो मानवीय स्पन्दन है; कुछ तो भाव-स्पन्दन है। पंतजी में तो उतना भी नहीं अनुभव होता। 'मदिर अधरों की सुरा अमोल' तक हम पर कोई असर नहीं करती। क्यों? क्योंकि कविता की कोई निश्चित भावभूमि हो, कोई केन्द्र हो, तब न? निराला की कविता में 'सन्ध्या-सुन्दरी' मानो एक अतीन्द्रिय लोक से उतरकर (परी) मनुष्यों की धरती पर आती है। और उनकी भावनाओं में, उनके जीवन में हिस्सा लेने लग जाती है। वह निर्विकार, अपूर्व 'मदिर अधरों की सुरा' नहीं है। वह मदिरा की नदी बहाती आती है। 'थके हुए जीवों' के लिए। कविता धीरे-धीरे एक स्वाभाविक गति के साथ अपनी परिसमाप्ति की ओर बढ़ रही है। अन्त में वह परिसमाप्ति का बोध नहीं होता हमको। महादेवी के समापक पंक्तियाँ भावयुक्त करने वाली, अनुभूति जैसी भी जितनी भी है, उनको पूर्ण-विराम देती लगती तो है।

दूर प्रिय की पहचान हो गई
मूर्छित वह सजनी
सिसकती [illegible]

पंतजी की एक और 'सन्ध्या-कविता' का उल्लेख प्रासंगिक होगा। शीर्षक है 'एक तारा' :

नीरव संध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का
ज्यों वीणा के तारों पर स्वर

और आगे—

गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्त
है मूँद चुका अपने मृदु-दल
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर, पड़ गई नील, ज्यों अधरं
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर

क्या यहाँ कवि अधिक मुक्त-मुखर और संवेदनशील नहीं है ? सौन्दर्यबोध भी अधिक आत्मविश्वासपूर्ण और मौलिक नहीं है ? यह ताजगी उस पहले वाली कविता में क्यों नहीं है ? विचार करं है कि ऐसा इसलिए है कि इस दूसरी कविता में कवि अपनी जमीन 'सन्ध्या' में वह नहीं था। यहाँ उसे अपनी भावनाओं के प्रति सचे नहीं। भावनात्मक लगाव और उलझाव पंतजी में नहीं है और यहाँ पर वे बिना उलके दृश्य के सौन्दर्य में रम सकते हैं। यहाँ न उस तरह व्यक्तित्व का प्रकाशन इष्ट है, न व्यक्तित्व का विलयन। न यहाँ जटिल मानवीय भावों का उत्थान-पतन चाहिए; न विचारों की टकराहट। यहाँ चाहिए केवल सूक्ष्म दृश्य-रूप-संवेदन और भारहीन, दायित्वनिरपेक्ष कल्पना। यह वर्णनात्मक कविता है और व्यक्तित्व का उलझाव नहीं माँगती। इसलिए पंतजी यहाँ निस्संकोच रम सकते हैं। जैसा कि ऊपर हमने देखा, उनकी आँख—दृश्य-संवेदना—बहुत पैनी है। जब कोई वस्तु अपने रूपाकार से उनकी आँख को पकड़ लेती है तब उनकी कवि-कल्पना जाग जाती है और उनकी कविता भावुकता और लिजलिजेपन के कुहासे से निकल आती है, ऐन्द्रिक बोध-सम्पन्न और सरस हो जाती है। तब उनकी कारीगरी भी कला के स्तर को छूने लगती है। मुश्किल यही है कि उनकी यह रूपासक्त आँख उसी को पकड़ती है जो 'अनुकूलवेदनीय' है। 'ग्राम्या' की कुछेक कविताओं में जरूर ऐसा लगा था कि उनकी संवेदना का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है किन्तु उस प्रयोग की कोई विशेष सार्थकता बाद में दीखी नहीं। उनकी कविता के लिए यह लगभग असम्भव ही है कि वह स्वभाव और व्यक्तित्व के छोटे घेरे को तोड़कर अस्तित्व की विशाल चुनौतियों को झेल सके। उनका सौन्दर्य-बोध उनकी सौन्दर्याभिरुचि से सर्वथा वशीभूत न होते हुए भी पर्याप्त सजीला और स्वतन्त्र नहीं है। उनके व्यक्तित्व में द्रवण नहीं है। महादेवी में निश्चय ही द्रवण-शीलता पंत से अधिक है। इसीलिए वे एक भाव पर एकाग्र होकर ज्यादा देर टिक सकती हैं। यह एकाग्रता प्रसाद जी की भी खूबी है। पंत में इसकी कमी अक्सर

लगती है। महादेवी की भूमिकाओं को पढ़ने पर लगता है कि उनमें विचारक कौन
एकाग्रता भी है। राग और भाव का गुम्फन भी उनकी कविता में बहुत प्रीतिक
लगता है। तब क्या कारण है कि उनकी भाव-साधना हमें उतनी प्रेरणा नहीं देती ? आ
का कवि उनके काव्य को अपने लिए उपयोगी क्यों नहीं महसूस करता ? क्या उनकी
कविता उनकी पूरी मानसिकता को अभिव्यक्त करती है ? निराला के बाद हिन्दी के
सर्वश्रेष्ठ गीतकार वही हैं, यह तथ्य है। किन्तु क्या उनकी काव्योपलब्धि इतनी ही है?
स्पष्ट ही महादेवी की कविता पर ऐसे आसान निष्कर्ष दे देना काफ़ी नहीं है। और
शायद यह दृष्टि भी अपर्याप्त हो। उनके पूरे कृतित्व का मंथन आवश्यक है, तभी इन
बातों का पूरा विवेचन हो सकेगा। गीत और कविता के सम्बन्ध पर भी नये सिरे से
विचार करना पड़ेगा। एक और प्रश्न भी है जिसे शायद आसानी से टाला नहीं जा
सकता (जैसे मैंने टाल दिया है), वह यह कि क्या काव्य की आलोचना में पुरुष और
नारी के अन्तर्जगत् की भिन्नता का अहसास और स्पष्ट विवेक भी सक्रिय रूप से
उपस्थित रहना चाहिए ? इसी से लगा-जुड़ा यह प्रश्न भी कि यूरोपीय और अमेरिकी
सन्दर्भ में यदि यह प्रश्न गौण या बिलकुल अप्रासंगिक हो तो क्या भारतीय समाज के
सन्दर्भ में भी इसे ऐसा ही मानकर चला जा सकता है ?

प्रसाद की कविता को जान-बूझकर आख़िर के लिए छोड़ा गया था। प्रसाद की कविता जितनी साफ़ और सरल दिखती है, उसका विश्लेषण-विवेचन उतना ही कठिन है। इस प्रकार के चंचुप्रहारी ऊधम में तो और भी कठिन। उनकी कविता का अनुभव 'अन्तर्गत ही भावें' वाला अनुभव है। उसे अलग कर स्पष्ट कैसे किया जाए ?

हम देखते हैं कि प्रसाद के विशेषण अलंकारधर्मी कतई नहीं होते। वे बात को और सूक्ष्म परिभाषा प्रदान करते हैं। 'रागारुण' रवि का परम्परागत विशेषण नहीं है। उसमें कवि के अन्तर्जीवन का स्पन्दन है जो कविता के भीतर से अपना अर्थ खोलता है। प्रसाद की कविता उनके अत्यन्त जटिल अन्तर्मन की झलक, एक झाँकी भर दिखाकर रह जाती है। जैसे उन्हें स्वयं अपने भीतर उठते आवेगों-विचारों में महज़ इतनी ही दिलचस्पी हो जितनी किसी सूत्रधार को अपने नाटक में हुआ करती है। उनकी कविताएं उनकी तीव्र मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म और शिष्ट नाटकीकरण प्रतीत होती हैं। अपने भावोद्वेलनों को वे सीधे कविता में नहीं बहा देते; उनसे उबर चुकने के बाद ही उनकी लीला देखते-दिखते हैं मानो वे उनसे अलग किसी दूसरे की भाव-स्थितियाँ हों। जिस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है, वह यह है कि उनकी कविता के भाव रूढ़ छायावादी 'भाव' नहीं हैं; न वे सर्वसुलभ काव्य-स्वीकृत 'भाव' हैं। वस्तुतः वे एक विशिष्ट अन्तर्जीवन में से उभरती मानवीय मनोवेगों की, मानवीय मन की जटिल अनुभूतियों की यथातथ्य, किन्तु सूक्ष्म और सारमय प्रतिच्छायाएँ हैं। गत्वर, सजीव और अत्यन्त मोहक।

> मधुर माधवी सन्ध्या में जब रागारुण रवि होता अस्त
> विरल मृदुल दल वाली डालों से उलझा समीर जब व्यस्त

प्यार भरे श्यामल अम्बर में, जब कोकिल की कूक अधीर
नृत्य-शिथिल बिछली पड़ती है, वहन कर रहा उसे समीर
तब क्यों तू अपनी आँखों में जल भर कर उदास होता
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ॥

प्रसाद की तुकें कल्पना को बाँधती नहीं, मुक्त करती हैं। समीर के विशेषण पर ध्यान दीजिए। वह यों ही नहीं है। जिस तरह रागारुण का राग व्यक्तिगत और विशिष्ट है; रूढ़िगत नहीं; उसी तरह यह 'उदासी' भी छायावादियों की धुँधली स्वप्निल उदासी नहीं है। यह इतनी व्यक्तिगत और विशिष्ट है कि हमारी संवेदना को आक्रान्त कर देती है, हमारी उदासी बन जाती है। 'और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता'··· यह कवि की व्यक्तिगत नितान्त अपनी आवाज है जो हमारे अनुभव को, हमारी गोपनतम अनुभूतियों को उकसाती हुई हमसे घनिष्ठ हो जाती है। हमारे अपने भीतर की कोई जटिल वास्तविकता ही मानो नितान्त सरल नग्न होकर हमारी चेतना की सतह पर तैर आयी हो। इस पंक्ति में एक तात्कालिकता है। एक निश्चित खास देशकाल में एक निश्चित भाव-संवेग की पकड़, जो हमारे मन को भी उसी अनिवार्यता से पकड़ती है।

कोकिल की कूक 'अधीर' है, 'नृत्य-शिथिल' है। ये खाली विशेषण नहीं; भोगे हुए अनुभव की सटीक परिभाषाएँ हैं, बिम्ब-सजीव परिभाषाएँ। यह छायावादी कोकिल नहीं है: निश्चित भाव-संवेगों को उद्दीप्त करने वाली सचमुच की कोयल है। इसका अस्तित्व और औचित्य भी कवि की जीवनानुभूति की एक विस्तृत सन्दर्भ-पीठिका में है। प्रसाद के शब्द मानो चाबियाँ हैं एक जटिल मन के भीतर के कमरों की! उनकी कविताएँ स्वतन्त्र होकर भी एक-दूसरे में खुलती रहती हैं। इन्हीं पंक्तियों में से गुजरते हुए क्या हमें प्रसाद की ही एक दूसरी कविता की पंक्तियाँ स्मरण नहीं आ रहीं?

जहाँ साँझ सी जीवनछाया, ढीले अपनी कोमल काया
नील नयन से ढुलकाती हो, ताराओं की पाँत घनी रे

हाँ, प्रसाद की पंक्तियाँ हमें उन्हीं की दूसरी पंक्तियों का, उन्हीं की दूसरी कविताओं (या कहानियों) का स्मरण दिलाती हैं; किसी भी अन्य कवि की कविता का नहीं। उनकी कविता का स्वाद बिलकुल ही अलग और विलक्षण है। सर्वप्रथम वह एक 'आवाज' है—इतनी व्यक्तिगत और विशिष्ट, कि एक मुहावरे से, एक पंक्ति से अपनी पहचान जगा दे।

इन पंक्तियों के 'अर्थ गौरव' का विस्तृत विश्लेषण मैं अन्यत्र प्रसाद के पुनर्मूल्यांकन से सम्बद्ध एक लेख में कर चुका हूँ। यहाँ उसे दुहराऊँगा नहीं। इतना ही कहना काफ़ी होगा: प्रसाद की सरलता एक बड़ी जटिलता में से कमायी गयी सरलता है। इस सरलता को समझने चलें तो हम फिर उसी जटिलता के समक्ष जा खड़े होंगे। 'और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता'···यह पंक्ति हमारी स्मृति में झनझनाती रहती है। मानो यह कवि के व्यक्तिगत जीवन का यथार्थ न

हो; बल्कि हमारे ही अस्तित्व के किसी यथार्थ को टोहती हुई हमारे भीतर घूम रही हो। 'आती है शून्य क्षितिज से/क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी/टकराती बिलखाती सी/पगली-सी देती फेरी'…यह 'हॉण्ट' करने वाला तत्त्व प्रसाद की कविता में हम अक्सर पाएँगे। मर्म के विषय में चाहे हम पूरी तरह आश्वस्त हों, न हों, पंक्ति हमें छोड़ती नहीं। प्रेतबाधा की तरह पीछे लगी ही रहती है। अवचेतना का अवचेतना के साथ यह संवाद, यह विचित्र सम्बन्ध क्या हमें छायावाद के किसी भी अन्य कवि में अनुभव होता है?

प्रसाद के वाक्यविन्यास भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं अपनी विलक्षण विशिष्टता के कारण। इसी कविता को देखिए—कितना लम्बा वाक्य है! 'मधुर माधवी संध्या…' से लगाकर… 'कोई भी न पास होता' तक। दरअसल वाक्य यहाँ भी कहाँ पूरा होता है? यह तो कविता की रीढ़ की तरह यहाँ से वहाँ तक फैला हुआ है। इतनी लम्बी साँस खींचने की ताकत छायावादियों में निराला के सिवा किसी अन्य कवि में नहीं। यह वाक्यविन्यास अनुभूति की लय पर सधा हुआ है। ऐसा वाक्यविन्यास उस आन्तरिक जटिलता और उससे संतुलित भाषा के सार्थक तनाव में से आता है जिसकी चर्चा ऊपर इस लेख के प्रारम्भ में की गयी थी।

प्रसाद की एक और विशेषता का उल्लेख आवश्यक है। उनके गीति-काव्य में संगीत और काव्य की मैत्री बहुत सार्थक और फलप्रद हुआ करती है। काव्य में जितना संगीत जायज तौर पर समा सकता है—बिना किसी तरह काव्यगुण को, अनुभूति की यथातथ्यता को क्षति पहुँचाए—वह प्रसाद को सिद्ध है। उनका कवि संगीत का 'उपयोग' करता है बिना उसे अतिरिक्त महत्त्व दिये। उनका पद्य बेहद लचीला और दक्ष है। प्रसाद जी एक भाव का चित्र खींचने के लिए कविता नहीं करते। वे कल्पनात्मक सूझों और उद्भावनाओं के कवि नहीं; विशुद्ध अनुभूति और बौद्धिक कल्पना के कवि हैं। उनकी कविता में हमें अनेक भावनाओं (परस्पर-विरोधी तक) और विचारों का सगुम्फन मिलता है जो किसी आसान काव्यरूढ़ि का सहारा नहीं लेता। शब्दों का जीवन कवि के जीवन से टकराता हुआ अर्थ की गूँज पैदा करता है। रचना-प्रक्रिया इतनी एकाग्र कि शायद ही कभी कोई शब्द अतिरिक्त चमक लगाकर हमारा ध्यान मूल उत्तेजना से हटाता लगे। यों प्रसाद जी बहुत सावधान शिल्पी नहीं लगते (पंत या महादेवी की तरह); किन्तु ऐसा कम होता है कि वे अपने को दुहराएँ। अव्वल तो यह किसी पद का दुहराव महज बासीपन नहीं देता क्योंकि वह एक नये विचार से, नयी उलझन से जुड़कर आता है। महादेवी का भाव—हमें शंका होती है कि क्या यह भाव उनकी समूची आन्तरिकता को मथ करके निकल रहा है। उनकी एकाग्रता भाव को चित्रित करने में ज्यादा तत्पर जान पड़ती है। भावुकता बन जाती है। किन्तु प्रसाद के साथ हम इस विषय में बिलकुल आश्वस्त हो रहते हैं। उनके प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ कभी रूढ़ नहीं होतीं। महादेवीजी के साथ हमें अक्सर लगता है जैसे जो विचारप्रवणता, जो जिज्ञासा उनके चिन्तन-प्रधान गद्य में झलक मारती रहती है, उसका उनकी कविताओं में—कविता लिखने वाली भावमयता में—

प्रवेश निषिद्ध है; किन्तु प्रसाद की कविता उनके समूचे व्यक्तित्व के, समूची मानसिकता के दबाव में से आती है। विचार की भावना के भीतर, संवेदन की विचार के भीतर घुसपैठ उनके यहाँ बराबर जारी रहती है। अन्तर्वृत्तियों का यह नाटक हमेशा नयी-नयी गतिविधियों से आन्दोलित रहता है। यह ऐसी ताजगी है जो वक़्त की मार से कुम्हलाती नहीं; ऐसी अखण्ड सृष्टि है जो कभी अप्रासंगिक और निरर्थक नहीं होती। ऐसा यथार्थ है जो सब यथार्थों को कहीं न कहीं छूता है।

३

पहला प्रयोगवादी

शब्द के कलि-दल खुलें
गति-पवन भर काँप थर-थर
मीड़ भ्रमरावलि ढुलें...

भाषा की काव्यमुक्ति की दिशा में—छन्द के बन्ध को लचीला बनाने की दिशा में जो पहल प्रसाद ने की थी, उसका सबसे फलप्रद विकास निराला के हाथों हुआ। लयों और तुकों की ऐसी समृद्धि और वैविध्य रचने वाले [illegible] के साथ उन लयों और तुकों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रसाद के बाद किसी और कवि में इतना प्रभावशाली नहीं लगता, जितना निराला में। उन्होंने भाषा की सतह पर भी लगातार प्रयोग किए हैं और गहराई में भी। यानी भाषा के प्रति वह व्यक्तिगत औत्सुक्य और जिज्ञासा, जो कवि के कवि होने की सबसे बुनियादी पहचान है, निराला में जितने स्तरों पर और जिस निरन्तरता के साथ सक्रिय देखी जाती है, उतनी किसी और कवि में नहीं। एकाग्रता, सघनता—अनुभूति की, रचना की—प्रसाद में निराला से कम नहीं, अधिक ही अनुभव होती है। पर कम कवि ऐसे होंगे जो प्रसाद से सब-कुछ सीख सकें। शायद एक विशेष रुचि और तैयारी का कवि—पाठक ही उनकी कविता और कवि-कर्म से सीधे जुड़ सकता है। निराला कई किस्म के कवियों के साथ के हैं। उनकी सफलतम कविताओं की तो बात ही क्या; जहाँ वे महज वाग्जाल करते प्रतीत होते हैं वहाँ भी वे अपने 'रचना-रहस्य' 'वचन-वयनों' से किसी भी कवि को चकित कर दे सकते हैं। भाषा को इस कदर मुक्त करने की सामर्थ्य किसी और कवि में नहीं है। कारण—कोई और कवि इस कदर भाषा के प्रति—उसके द्वारा जीवन के प्रति—समर्पित नहीं दिखाई देता। वे भाषा के शिकार हैं। उनके लिए कोई कसौटी परखी नहीं। हर अंश में उनके 'भाव की झड़ लग' आती है। यह कैसी [illegible]

होती है, निराला के ही शब्दों से निराला-काव्य को बखानने की ? निराला की
ाई निराला की ही भाषा से मिल सकती है। 'स्पर्श तुम्हारा मिलने पर क्या,
मार यह फिर न सकेगा ?'

निराला का कारखाना इतना खुला हुआ है कि तुलना में प्रसाद का कारखाना
ाना मालूम दे (हालाँकि ऐसा है नहीं)। निराला का आवेग जितना उनके भावों-
ारों के साथ घनिष्ठ है उतना ही भाषा—महज भाषा के साथ भी। इस निष्पाप
ाड़ को, इस तोड़-फोड़ को आप उतनी ही निष्पाप आँखों से देखिए, तमाम
हों को परे झटककर—शब्दों के वैचित्र्य से, तुकों की अन्धाधुन्धी से बिना
े—तो आपको वह हृदय, वह अन्तरंग दिखलाई दे जायगा—जो 'आत्मा' का
ं है और जिसे खोलने में प्रयोगवादियों का शिल्प-कौशल भी काम नहीं दे सका।
? क्योंकि उनमें वह निष्कवचता, वह 'इनोसेन्स' नहीं थी।

वर्जन के जो वज्र-द्वार हैं
क्या खुलने के भी किवार हैं ?
प्राण पवन से आर-पार हैं ?
जैसे दिनकर निष्कर, निश्शर

एष्ट्य छिद्रक्षों से विहीन हैं
जैसे जन आयु से छीण हैं
सभी विरोधाभास पीन हैं
असमय के जैसे धाराधर।

(अर्चना)

निराला के अलावा 'किसकी विभूति थी ऐसी' जो विरोधाभास के साथ 'पीन'
ेता ? पीन के साथ तो कवियों को भी पयोधर ही याद आता है। तो भाने
—उससे कोई नुकसान नहीं फायदा ही है। वे शब्द की पदोन्नति ही तो कर
—उसे कोई जात-बाहर थोड़े ही किए दे रहे हैं। इसे 'विहीन' और 'छीण' की
ुक मत समझिए। यह तो पूरी कविता की चाबी है। निराला का जीवन ही
ाभासों से बना नहीं है, उनकी कविता भी विरोधाभासों को आमन्त्रित करती है।
—चाहे आधुनिक हो चाहे प्राचीन, यह उम्मीद तो उससे हमेशा ही की जाती
कि वह विरोधाभासों का विलय करे अपने भीतर। जितने ही विरोधाभास
में एकत्र होंगे, जितना तनाव होगा, उतनी ही सार्थक काव्यमुक्ति वह मानी
उतनी ही सफल कविता। कविता में—रचना-प्रक्रिया के दबाव में ही तो
ास गलते और ढलते हैं; पीन होते हैं। निराला ने जो सवाल शुरू में ही पूछा
ेई रेहटॉरिकल सवाल नहीं है। वह उनके व्यक्तित्व का सवाल है और उसकी
ल उनकी जीवनी तक ही नहीं है, वह हम सबके जीवन तक पहुँचती है।
उत्तर उन्होंने अगली दो पंक्तियों में रखा है, वह भी रेहटॉरिकल इच्छापूर्ति
नहीं है। वह कोई गर्वोक्ति नहीं है। निराला कवि हैं। वे वर्जन के वज्र-
सिर पटकने का अनुभव भी उतनी ही नजदीक से जानते हैं जितने कि

विरोधाभासों के 'पीन' होने के अनुभव को। जब सृजन होने वाला हो
विरोधाभास भी पीन होने लगते हैं। और निराला सृजन ही तो कर सकते
ही तो कर सकते हैं। निराला निहत्थे हैं तो सूरज भी तो निहत्था (नि
निहत्था ही नहीं, निश्शर भी। लीजिए सूरज को 'निश्शर' कहने वाला भी
कवि मिला। जिसके 'प्रखर बाण' और तीखे बाण कवियों को जमाने से चु
वह सूरज निश्शर कैसे हो सकता है? कितनी बेतुकी बात है? मगर जैसा
शुरू में ही देखा, निराला के बेतुकेपन में भी तुक होती है, बल्कि सच पूछें तो
बेतुकापन दिखाते हैं, उतनी ही तुक की बात करते हैं। वो पोलोनियस ने
था हैमलेट के बारे में? 'देयर इज़ मैथड इन हिज़ मैडनेस।' 'शर' तो
अपने दुश्मनों, कवि-द्रोहियों के लिए रख छोड़ा है ('देखता रहा मैं खड़ा
शर-क्षेप, वह रण-कौशल')। निराला के प्राण 'निश्शर' हैं। निराला का
'निश्शर' है क्योंकि वह प्रकाश का देवता है और 'प्रकाश' का अर्थ निराला की
में क्या होता है, सभी जानते हैं। 'सरोज-स्मृति' के हाहाकार में भी वह प्र
एक बुलन्दी पर चमकता रहता है (*'अशब्द अधरों का सुना भाष/मैं कवि हूँ
प्रकाश'*)। *कवि जिससे प्रकाश पाता है, उसी से तदात्म भी होना चाहता है।*
दिनकर निश्शर है। रहे 'असमय के धाराधर' सो वे तो पीन होंगे ही। 'दिन
उनका रिश्ता साफ ही है।

यह है निराला का शिल्प। ऊटपटांग, शिल्पहीन और शिल्पद्रोही शिल्प,
छायावाद से आगे की कविता करवट लेती दिखाई देती है। निराला की स
संवेदना एक ओर सांगीतिक विन्यासों को निखारने की ओर सक्रिय रहती है तो
ओर जीवन के ठेठ गद्य से, *जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के ठीक विपरीत दिशा में।*
के कलिदल' दोनों जगह खुलेंगे। निराला से बड़ा गीत का मर्मज्ञ भला कौन हो
पर, उनके अधिकांश गीत गीत के तर्क से नहीं, ठेठ आधुनिक कविता के तर्क
व्यंग्य, विपर्यय, विरोधाभास और विद्रूप के तर्क से—घनीभूत रचनाएँ हैं। गीत
नहीं हैं।

> तपन से घन, मन शयन से
> प्रात-जीवन निशि-नयन से
> प्रमद आलस से मिला है
> किरण से अलग्ह किला है
> रूप शंका से सुघरतर
> अदर्शित होकर खिला है
>
> *(अर्चना)*

निराला की कविता का आकर्षण इस स्तर का है। रूप-शिल्प उनके
प्रदर्शनी नहीं है जो पुकारकर कहे 'आओ मुझे सराहो'। वह 'अदर्शित' होकर खि
है। यह पंत और महादेवी की कविता की इकहरी रूपासक्ति नहीं है जो हर प्रति
बेदनीय से सुरक्षित हो। यह ऐसा रूप है जो 'शंका से सुघरतर' है। यहाँ शि

प्रतीतियों की टकराहट भी है। निराला खुद ही कहते हैं एक जगह 'स्वर विवादी ही लगा।' और वे लगाते भी हैं—

ऊँट-बैल का साथ हुआ है
कुत्ता पकड़े हुए जुआ है
... ...
मानव जहाँ बैल-घोड़ा है
कैसा तन-मन का जोड़ा है
देख रहा है विज्ञ आधुनिक
वन्य भाव का यह कोड़ा है
इस पर से विश्वास उठ गया
विद्या से जब मैल छूट गया
पक-पक कर ऐसा फूटा है
जैसा सावन का फोड़ा है
... ...
कठिन रज्जु जड़ की, चेतन की
वसुधा बँधी विजय-केतन की
काम करो, न बात वेतन की
ऐसे जुए न नाथो, साथो!
... ...

(आराधना)

यह एक बड़ी सपाट-सी बात लग सकती है पर है यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य कि निराला की अनेकानेक कविताएँ एक विशेष और विलक्षण अर्थ में भाषानुभूति की और छन्दानुभूति की भी कविताएँ हैं। मानो वे अपनी चंचलता, उद्वेग, विद्रोह, कुंठा, क्षोभ—सब कुछ शब्दों की गति-यति में संक्रान्त कर देने की छटपटाहट से प्रेरित हैं। उनकी अस्वस्थता भी उन्हें भाषा की नई भंगिमाएँ देती हैं। एक ओर वे 'पावक-पाश दिगन्त बँधा है / अग-जग जैसे अडग सधा है / जावक-जय चरणों पर छाई / पलक पलाश डाल बलियाई' जैसी मुग्धकारी पंक्तियाँ रचते हैं, तो वहीं दूसरी ओर उतने ही हल्के हाथों से खेल-खेल में चोट पर चोट करते जाते हैं—

छलके छल के पैमाने क्या!
आये बेमाने माने क्या!

हलके-हलके हल के न हुए
दलके-दलके दल के न हुए
उफले-उफले फल के न हुए
बेदाने ये तो दाने क्या?

घट रहा जमाना कहाँ पटा?
हट रहा पैर जो कहाँ सटा?

पूरा कब है जब लगा बटा
रुपया न रहा तो मानें क्या ?

निराला अपनी मातृभाषा से, उसकी व्यंजना-सामर्थ्य से इस क़दर अभिभूत दिखाई पड़ते हैं मानो कह रहे हों—"देखो हिन्दी इसे कहते हैं। यह है हिन्दी की ताकत। यह है हिन्दी की महिमा। मैं कौन हूँ कविता करनेवाला? कवि तो असली यह भाषा खुद है।" और इसके साथ ही साथ, चूँकि वे यह मानने को तैयार नहीं कि कुछ चीज़ें, कुछ गुण ऐसे भी हो सकते हैं जो हिन्दी खड़ी बोली में नहीं हैं, वे लगातार एक चुनौती-सी महसूस करते रहते हैं इस क्षति की पूर्ति कर डालने की। उनकी कई कविताएँ ऐसी चुनौतियों का जवाब देती लगती हैं और ज़ाहिर है कि ऐसे कवि की असफलताएँ भी उतनी ही रोचक और शिक्षाप्रद होंगी जितनी कि वे सफलताएँ जो उसके विशिष्ट वेदन-तंत्र की उपलब्धियाँ हैं। 'अर्चना' की भूमिका में निराला कहते हैं—"खड़ी बोली की गाड़ी के और चलते रहने की आवश्यकता है; ये गीत जैसे उसी की पूर्ति करते हैं।" हमें 'गीतिका' की भूमिका भी याद आती है—"मुझे ऐसा मालूम देने लगा कि खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की ऊँची-से-ऊँची सौन्दर्य-भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी। उसकी सम्पूर्ण प्राचीनता जीर्ण है। मैंने पद्य के अपर अंगों में जो थोड़ा-सा काम किया है, वह खड़ी बोली के अनुरूप-प्रतिरूप जैसा भी हो, उसके अलावा कुछ गीत भी मैंने लिखे हैं।" 'खड़ी बोली के अनुरूप-प्रतिरूप' में विवेक भी है और व्यंग्य भी। निराला जानते हैं, वे ऐसी छूट भी ले चुके हैं जो और किसी ने नहीं ली। पर वे यह भी जानते हैं कि उन्होंने ऐसा करने का कुछ अधिकार भी कमाया है। कठमुल्ले आलोचकों पर प्रहार भी है यह। उनकी खास निराली भाषिक सर्जनात्मकता को परखने की बजाय जब आगे बढ़े जिसे लोग उनकी भाषा के वैचित्र्य को लेकर उल्टा-सीधा प्रहार करने लगे तो उन्होंने तिलमिलाकर क्या प्रतिक्रिया की, वह देखने काबिल है। 'बेला' की भूमिका देखिए. "निराला अपनी कविताओं द्वारा पाठक को रस-स्नान कराने का दावा (नहीं दावा) नहीं करते। उसे 'हिन्दी सिखाने' का काम करते हैं। यह दावा भी उस विशेष अर्थ में नहीं है, जिस अर्थ में हर बड़ा कवि अपनी भाषा का 'गुरु' होता है उस भाषा के बोलने वालों के लिए।" पर इस स्थिति की विडम्बना भी क्या हमें अनुभव नहीं होती? जिस चीज़ ने उन्हें तोड़ा, वह यही थी। उनका आत्मपुनर्वास या परिस्थितियों की ऐसी प्रतिकूलता नहीं। हिन्दी के किसी और कवि की कविता अपनी परिस्थिति से इस क़दर मौलिक प्रतिरोध लेती नहीं दिखाई देती जितनी निराला की कविता। उसके तथाकथित अनगढ़ता ने उनकी कविता को बनाया ही है, बिगाड़ा नहीं है। यदि वह सम्पूर्ण होकर वे यह कविता नहीं लिख सकते थे जो उन्होंने लिखी और जिसे कोई और नहीं लिख सकता था। जिस कवि को अपनी व्याख्या आप ही करनी पड़े या किसी प्रकाशक की भूमिका और टीका के साथ अपनी कविताओं को छपाने का रिवाज ढूँढना पड़े, इससे बड़ी विडम्बना, इससे बड़ा अपमान उसकी प्रतिभा का, उसकी [illegible] का क्या हो सकता है?

ख़ैर, बात इतनी ही नहीं है। निराला अगर अपनी कविताओं द्वारा हिन्दी सिखाने की बात करते हैं तो इसलिए भी कि उनमें खुद एक शाश्वत सिखनौड़े का गहरा जिज्ञासु-भाव बराबर विद्यमान और सक्रिय रहा है—अपनी भाषा के प्रति। अभिमान—आहत अभिमान—और एक बुनियादी नम्रता का यह अद्भुत संयोग हमें निराला में ही मिलेगा। "ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे यद्यपि/मैं ही वसन्त का अग्रदूत/ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत"···में आज अगर हम वह पारदर्शी सचाई महसूस कर सकते हैं तो इसीलिए कि हम उस बुनियादी नम्रता को अनुभव कर सकते हैं जो उन्हें उनके समकालीनों से गहरे और बहुत गहरे भाषा के मर्मस्थलों में ले गई। "खड़ी है दीवार जड़ की घेरकर/बोलते हैं लोग ज्यों मुँह फेरकर"; "मौन भाषा सी उनकी विन्दु व्यक्त था भाव/एक अव्यक्त प्रभाव···बाहर थी दो बूँदें पर थी शान्त भाव में निश्चल/विकल जलधि के जर्जर मर्मस्थल की···"; "अपने लिए घोर उत्पीड़न/किन्तु श्रोडनक था औरों के लिए/पक्षी का सा जीवन/हँसमुख किन्तु ममत्वहीन निर्दय वालों के लिए"···। जीवन को, भोगे हुए यथार्थ को कविता में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया और संघर्ष क्या होते हैं यह कोई निराला से सीखे। निराला ने भाषा को मुक्त किया और कवि-व्यक्तित्व को भी। उनके द्वारा हिन्दी कविता में कवि-व्यक्तित्व का प्रवेश एक अन्धड़ की तरह हुआ। कवि-व्यक्तित्व का, भद्र व्यक्तित्व का नहीं। यह नयी कविता को उनकी दूसरी बड़ी देन थी। भद्रता के छद्म को कविता से तोड़ने की। क्या प्रयोगवादी कवि इस स्वतन्त्रता का पूरा उपयोग कर सके? शायद नहीं। क्योंकि उन पर निराला का प्रत्यक्ष (और सर्वथा वाछनीय) प्रभाव ही नहीं, पन्त का परोक्ष (और अवांछनीय) प्रभाव भी कहीं-न-कहीं ज़रूर हावी रहा। बहरहाल, देर-सबेर वह प्रभाव पल्लवित होना ही था और हुआ। मुक्तिबोध, श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों में। "वह तभी तलब लगती है बीड़ी पीने की···ऐसी हँसी उस कविता की जो मेरी सुविधा छीन चले", ···"कुछ लोग बनाएँगे मूर्तियाँ क्रान्ति की अथवा षड्यन्त्र की, मुझसे नहीं होगा/जो मुझसे नहीं हुआ वह मेरा संसार नहीं···", नयी कविता में यह जो नया ख़मीर, नई बेबाकी कुछ देर से ही सही, आई, इसके पीछे वही काव्यमुक्ति थी जिसे हिन्दी ने निराला में 'बनबेला' के साथ ही जान लिया था।

> पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उन पर
> कुछ लोग बेचते गा-गा गर्दभ-मर्दन स्वर
> हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
> रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग

(भतरा)

'अटल' के व्यंग्य पर ग़ौर कीजिए जो एक भरी-पुरी 'पार्टी' का बड़ल लेकर हिन्दी साहित्य और सम्मेलन पर गिरने जा रहा है। निराला की संवेदना जितनी विस्तृत और समावेशी है, उनकी भाषिक चेतना भी, उनका मुहावरा भी उतना ही समावेशी है। वे अपनी कविता को हिन्दी के पूरे शरीर में, उसके तमाम नाड़ी-संस्थान और केन्द्र पैमाने में धड़कते देखना चाहते हैं। जैसे उन्हें किसी पश्चाताप वाद में

सन्देह नहीं है वैसे ही अ-समासवादी शब्दों में भी सन्देह नहीं है। यही उनकी मन्त्र-कोश है — एक सर्वथा निर्भीक और आत्म महत्त्वाकांक्षा। अगर उनकी हिन्दी रवीन्द्रनाथ की बँगला से और तुलसीदास की अवधी से टक्कर ले सकती है तो और क्या चाहिए?

वे संस्कृत से अभिभूत होंगे—अन्त्यानुप्रास भरती करेंगे संस्कृत शब्दों की—पंत से भी चार कदम आगे बढ़कर (उनका 'तुलसीदास' ही देख लीजिए)—; मगर निराले उन्हें बनाना हिन्दी के ही मोहल्ले में। और हिन्दी की ही शान में। उर्दू भी उनके *लिए एक चुनौती की शक्ल में ही पेश हुई।* इतना उन्हें दीखा कि इसमें कुछ है जो अपनी हिन्दी में नहीं है। पर क्यों नहीं है? कौन कहता है नहीं है? क्या जरूरत है इसके लिए डेढ़ चावल की अपनी खिचड़ी अलग से पकाने की? लीजिए 'बेला' हाजिर है। 'कुकुरमुत्ता' हाजिर है। *बस एक ही तो छूट थी जो अभी तक इस्तेमाल में ली नहीं* गई थी हिन्दी कविता में : ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करने की। निराला ने वह छूट भी ले डाली और हिन्दी पद्य में कुछ-कुछ उस क़िस्म की चीज पैदा कर डाली *जिसे 'स्प्रिंग रिद्म' बोला जाता है।*

रस ही रस मेरा रहा
रस में मैं डूबा-उतराया

यह ग़ौरतलब है कि निराला यहाँ भी आविष्कार का दावा नहीं करते। सुनिए, वे क्या चाहते हैं 'कुकुरमुत्ता' की भूमिका में—

"लिखने वालों के लिए भाषा और भावों के संस्कार से सुविधा कर दी गई है। वे कविता के एक आधुनिक अंग की भाषा की लीक पकड़ सकेंगे। किताब पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना विज्ञप्ति पढ़ने से अच्छा है। अस्तु।"

कविता की जिन्दगी कवि-व्यक्ति में भी होती है और भाषा में भी। पहली चीज को निराला से ज्यादा अच्छी तरह कौन जानेगा? *"कलम मेरा नहीं लगता/मेरा* जीवन आप जगता।" भूमिका में जो बात उन्होंने कही है, उसका इशारा दूसरी चीज *के प्रति है।* और सचमुच *'कुकुरमुत्ता' में निराला की मार्मिक संवेदना ने एक नई* छलांग लगाई। दूसरे खण्ड की आरम्भिक पंक्तियाँ ही देखिए। क्या इन्हें पढ़ते हुए 'प्रयोगवाद' और 'प्रगतिवाद' के बिल्ले और नारे एकदम फ़ालतू और बेमानी नहीं लगने लगते? "बाग के बाहर पड़े थे झोंपड़े/दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े/जगह गन्दी, रुका सड़ता हुआ पानी/मोरियों में, जिन्दगी की लन्तरानी/बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ···।" कुकुरमुत्ता के पद्य में कितनी सजीवता है, कितनी *स्वतन्त्रता* है, और कितना वैविध्य!

नाई, धोबी, तेली, तम्बोली, कुम्हार
फ़ीलवान, ऊँटवान, गाड़ीवान

पहली पंक्ति को पढ़ने के लिए नाई और तेली को ह्रस्व करके पढ़ना पड़ता है तो दूसरी में दो जगह विराम लेते हुए पढ़ना होगा। मगर इसके तुरन्त बाद *इस अटकाव* को राहत देती हुई पंक्ति आ जाती है जो मुस्लिम के साथ हिन्दू को भी ह्रस्व

: देती है।

एक खासा हिन्दू-मुसलिम खानदान
एक ही रस्सी से किस्मत की बँधा
काटता था जिन्दगी गिरता सधा

जहाँ पहले हिस्से में झोपड़ों की जिन्दगी अपनी पूरी स्थानिक विवरणात्मक साथ मूर्त की गई थी, वही देखिए वह इमेज यहाँ आकर क्या रूप ले चुकी है। एक स दृश्य पूरे हिन्दुस्तान का दृश्य (आईना) बन गया है। झोपड़ो की जिन्दगी पूरे त की जिन्दगी से एकाकार हो जाती है। कुकुरमुत्ता के पद्य में कहीं भी एकरसता हीं है। कोई पंक्ति ज्यादा छूट लेती है विराम की, घट-बढ़ की; कोई कम। प्रवाह ना रहता है और अवरोध उसकी रफ्तार घटाते-बढ़ाते रहते हैं। कुछ नमूने पर्याप्त गे—

खिल रहे थे फूल, देखा
जी के सागर का अकूल रहा लेखा

यहाँ विराम अकूल के बाद है और उसे फूल की तुक एक टेक दे देती है। इससे ी ज्यादा अप्रत्याशित भँवर और मोड लय के आते हैं। पर जल्द ही निराला परिचित प्रवाह और परिचित रफ्तार में आ जाते हैं। अप्रत्याशित को बहुत दूर तक नहीं घसीटते। 'कुकुरमुत्ता' के तीसरे खण्ड की शुरुआत को पढ़ते हुए निराला का यह छन्द-विवेक सराहा जा सकता है।

भूल गया जो कुछ भी उसका था गुलाब से प्यार
देखने लगी गोली को करके सिर्फ आँखें चार

यहाँ पाठक की परिचित अभ्यस्त लय एकदम बदल जाती है और उसे एक झटका-सा लगता है। पहले की पंक्तियों का पाठ आपको इस रफ्तार के लिए बिलकुल तैयार नहीं करता। यह स्प्रिंग रिद्म नहीं है। बिलकुल परम्परासम्मत छंद है पहली पंक्ति। और दूसरी पंक्ति को भी आप उसी रौ में खींच लेना चाहें तो आपको 'सिर्फ' पर फिर रुकना पड़ेगा। मगर आप जैसे ही इस बदले हुए अन्दाज के सहारे आगे भी बढ़ना चाहते हैं, वैसे ही फिर लड़खड़ा जाते हैं। गलती आपकी है क्योंकि निराला फिर पहले वाली सामान्य लयगति में वापस आ गए हैं—

गोली जैसे बिल्ली दूटी देखकर अपना शिकार
कुकुरमुत्ते तोड़ती भूली छुटाई का विचार

फिर वही दीर्घ को ह्रस्व करने की छूट लेने वाला स्वच्छन्द मगर देखिए इन दो पंक्तियों में भी पहली पंक्ति छूट लेती है; दूसरी पंक्ति बिना छूट लिए ही उस छन्द में बढ़िया खप गई है।

यह स्वतन्त्रता निराला ने यों ही नहीं प्राप्त कर ली थी। इसके पीछे 'जुही की कली' और 'जागो फिर एक बार' में कमाए गए अनुभवों का आत्मविश्वास काम कर रहा था। मुक्तछन्द की उस स्वतन्त्रता के प्रथम अनुभव की याद काम कर रही थी जहाँ पंक्तियों को आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है, स्वराघात आगे-

पीछे हटाया जा सकता है और तुकों को भी पास या दूर कहीं भी विन्यस्त किया जा सकता है। या उनकी जगह स्वरों की तुकमान पंक्तियों से काम चलाया जा सकता है या पंक्ति के बीच में ही, पंक्ति के अन्दर ही तुक पैदा की जा सकती है। (क्या पंक्तियों को किस प्रभु की गलियों में फँसी ?) निराला मुक्तछन्द से बँधे छन्द में और बँधे छन्द में फिर मुक्तछन्द में लगातार आते-जाते रहे। अपनी उपलब्धि में निराला ने उसकी संभावनाओं को उन्होंने जल्दी से चुका नहीं दिया। सन् '२१ में उन्होंने 'जागो फिर एक बार' लिखा और उसी वर्ष 'शेष' शीर्षक कविता लिखी जो परम्परागत छन्द में है पर इसमें भी उन्होंने एक जोरदार प्रयोग किया है जो वैसे प्रसाद जी पहले ही कर चुके थे। पर निराला ने उसकी संभावनाओं का अधिक सूक्ष्म और अधिक मार्मिक उपयोग किया है। इसमें उन्होंने एक ही छोटी कविता के अन्दर दो-दो, बल्कि तीन-तीन लयगतियों का समावेश कर दिया है और उन्हें एक-दूसरे से भिड़ा दिया है। यह प्रयोग उन्होंने महज चौंकाने या कौशल-प्रदर्शन के लिए नहीं किया है। कविता में एक अत्यन्त विशिष्ट भाव-प्रसंग की जैसी तन्मयता और तदाकारिता है। हम पाते हैं कि यह एक नई शिल्पविधि है। एक से ज्यादा लयगतियों को एक ही रचना में एकत्र करना, जिसे संगीत में 'काउण्टर-पाइण्ट' कहते हैं। नयी कविता में हमें अज्ञेय की भी दो-एक कविताओं में इसका उपयोग मिलता है। और शमशेर के यहाँ भी।

निराला की इस कविता में भी गति का परिवर्तन अपनी अनिवार्यता से आश्वस्त करता है। द्रुत और विलम्बित गतियों का यह समन्वय और संयुक्त कवि के कथ्य और आवेग को जिस तरह ढालता है, हमें लगता है कि यही उसे माफिक आ सकता था। इसके सिवा और कोई रूप उसका हो ही नहीं सकता था। निराला की गीति-प्रतिभा का वैशिष्ट्य यहाँ उभरने लगता है। प्रयोगशील निराला शुरू से ही कई जमीनों पर काम करते नजर आते हैं। गीति का अधिक आत्मनिष्ठ क्षेत्र, मुक्तछन्द में अपेक्षाकृत निर्व्यक्तिक थीमें, और इनके बीच-बीच में अभिव्यक्ति—मात्र अभिव्यक्ति को माँजने के लिए, भाषा को साधने के लिए सूक्ति जैसी चीजें भी। उनके विकास-क्रम पर गौर कीजिए : 'शेष' जैसी कविता में गीति-तत्त्व को एक नये धरातल पर अन्वेषित करने के बाद वे फिर लौटते हैं उद्‌बोधनात्मक कविता में। 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' सन् '२२ में लिखा गया था। इसमें निराला ने 'जागो फिर एक बार' में अर्जित अनुभव का उपयोग किया और देखा कि कम आवेगिल, अधिक चिंतनशील कथ्य का निर्वाह मुक्तछन्द में कैसे किया जाएगा। यह निराला की ही सामर्थ्य है कि वे जब पद्य में हाथ माँजने बैठते हैं, आन्तरिक तुकों का अध्ययन करना चाहते हैं, तब भी वे ऐसी सफलता प्राप्त कर ले जाते हैं जो सूक्ति से बड़ी चीज है।
[illegible] के लिए उनकी काफी शुरुआत की कविता 'अध्यात्म फल' को ही लिया [illegible] इसमें भी निराला की चारित्रिक विशेषता नहीं झलक जाती ?

काल की ही धाल से गरभ्भा गए

[illegible]

एक ही फल किन्तु हम बल पर गए
प्राण मेरा त्राण सिन्धु अकूल में

शमशेर की एक कविता की पंक्ति याद आ रही है : "सत्य के बल
मैं / ग्राम निर्धन की न भूलूँ मैं।" यह आकस्मिक नहीं कि शमशेर और अ
मुक्तिबोध जैसे भिन्न प्रकृति के कवियों ने समानरूप से निराला की कविता
ग्रहण की है। उनसे सीखा है सचमुच। ऊपर हमने जिस 'काउण्टर-पाइण्ट'
कही थी, उसे आगे जाकर निराला की 'विधवा' और 'भिक्षुक' जैसी कविता
प्रयुक्त होते हम देखते हैं और पाते हैं कि कवि अपने प्रयोग को और भी विस
में सार्थक करने की कोशिश में है।

द्विवेदी-युग में एक कवि ऐसा था जिसमें काव्य-शिल्प के प्रति,
मुहावरे के प्रति वह आसक्ति और उत्साह था जिसे हम छायावादियों के बीच
में सबसे ज्यादा सक्रिय देखते हैं—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'। एक बहुत
और विशेषीकृत अर्थ में मानो जयशंकर प्रसाद मैथिलीशरण गुप्त से जुड़ते
निराला हरिऔध से। मगर निराला के चुभते चौपदे केवल 'चुभते चौपदे'
हैं। उनके काव्याभ्यासों में भी उनका व्यक्तित्व, उनकी निजता बोल ही
ऊपर उद्धृत चौपदे में विरोधाभास की छटा देखिए। क्या यहाँ वह बीज नहीं
दे जाता जो बीस साल बाद की एक महत्वपूर्ण कविता (मरण-दृश्य) में
हुआ है? "विहग के वे पंख बदले / किया जल का मीन / मुक्त अम्बर गय
जलधि जीवन को···"

हरिऔध से निराला और निराला से शमशेर तक इस काव्य-शिल्पगत
और रूपान्वेष की प्रक्रिया को कई बारीकियों में विकसित होते देखा जा स
यह अपने-आप में एक रोचक अध्ययन होगा। बहरहाल, काव्य-शिल्प और
संवेदन के इस अनवरत मंथन-अन्वेषण और प्रयोगशीलता का ही परिणा
बीच-बीच में निराला के विकास-क्रम में ठोस और सुनिश्चित सफलत
के पत्थरों की तरह जड़ी दिखलाई पड़ती हैं। अपने बोध-संवेदन त
व्यक्ति में निराला क्रमशः सरल से जटिल की ओर प्रगति करते गए हैं।
इस सारी प्रक्रिया में ठहराव भी आए हैं, पिष्टपेषण भी हुआ है, जटिल से
की ओर मोहाविष्ट प्रत्यावर्तन भी हुआ है। पर अकस्मात् हम पाते हैं कि यह
एक और बड़ी छलाँग लगाने के लिए था। क्या भाषिक चेतना, क्या
सभी दृष्टियों से यह विकास-क्रम बहुत ही स्पष्ट और उद्घाटक है। आरम्
में ही जिस प्रकार 'जागो फिर एक बार', 'शेष', 'अध्यात्म-फल' जैसी क
उनकी काव्य-प्रतिभा के विविध विस्फोट की सूचना मिल जाती है उसी प्र
भी वे इनमें से हर रंग को लगातार मांजते चले जाते हैं और एक समय ऐस
जब उनकी ये बिखरी-सी शक्तियाँ एक अधिक एकाग्र (अतएव अधिक
रूपाकार में विन्यस्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए 'तोड़ती पत्थर'
लीजिए। इसमें मुक्त छन्द की विराम-सम्बन्धी, अतिनियंत्रक स्वतन्त्रता

उपयोग भी है ही, साथ ही साथ गीति की एकाग्र शिल्पता भी है। 'जागो फिर एक बार' की ओजस्वी स्वर, 'गेय' का पूर्णत: सांगीतिक विन्यास यहाँ बेमेल होता। पर अन्तत: दोनों का यहाँ काम आता है। चरितार्थ हुआ है। तुकों का रस-रचाव भी यहाँ देखिए कितना जटिल, उपयुक्त और सारगर्भित है। निश्चय ही कविता में सिद्धि के अगर कोई मानी होते हैं तो यह एक सिद्धि है। अपेक्षाकृत जटिल संवेदनात्मक प्रतिक्रिया के समनुरूप ही जटिल स्थापत्य की सिद्धि। यहाँ—और इसके बाद भी आप देखिए—तुकों की दूरी बढ़ती जाती है और उसके साथ-ही-साथ कवि की लम्बी साँस साधने की शक्ति भी। लय की इकाई भी क्रमश: छोटी से बड़ी होती जाती है। 'तोड़ती पत्थर' के बाद ही 'राम की शक्तिपूजा' लिखा जाता है और उसके बाद उससे भी बड़े फलक पर काम करने वाली लयात्मकता सिद्ध होती है 'तुलसीदास' में, जहाँ निराला में कवि ने अधिकतम मर्यादा, अधिकतम बन्धन के भीतर अधिकतम काव्य-स्फूर्ति और काव्योन्मोचन हासिल किया है।

४

पंत-काव्य : एक पुनरीक्षण

अपने सारे उपकरणों से लैस एक आधुनिक आलोचक जब सुमित्रानन्दन पंत की कविता से निपटने बैठता है, तब उसे एक अजीब झुँझलाहट का अनुभव होता है। अपनी सहज-विश्लेष्य गरिमा और सर्वव्यापी महिमा से मण्डित यह कविता उसके गोताखोर धीरज को न केवल बहुत जल्द चुरा देती है, बल्कि उसे हास्यास्पद भी बना देती प्रतीत होती है। हिन्दी आलोचना का इतिहास आलोचना का कम, आलोचना की अव्यवस्था का—बल्कि कहा जाए, आलोचना के अव्यवस्थाओं का—इतिहास अधिक रहा है। कवि पंत की कीर्ति का इतिहास भी इसके समानान्तर चला है। जैसे-जैसे पंतजी की आलोचना अव्यवस्थित होती गयी है, वैसे-वैसे पंतजी की कविता भी, ठीक उसी अनुपात में 'अव्यवस्थित' होती गयी है। इतना ही नहीं, वह अपनी समीक्षात्मक व्यवस्था की फ़िक्र भी ख़ुद ही करती गयी है। पूर्व-पंत और उत्तर-पंत में क्या अन्तर है, इसे समझने के लिए अगर कविताएँ ही काफ़ी न हों तो हम 'पल्लव' की भूमिका के आलोचनात्मक उत्साह की तुलना 'रश्मिबंध' की भूमिका के व्याख्यात्मक स्पष्टीकरण से करके देख सकते हैं। एक ख़ास तरह का आत्म-सजग अध्यवसाय उनकी कविता और कविता-सम्बन्धी वक्तव्यों में शुरू से आख़िर तक प्रतिफलित होता दिखाई देता है, जिसे पहचानने-भुनाने हमारे आलोचकों को बड़ी देर नहीं लगती। यों भी, विदग्धता, वैशिष्ट्य और कर्मकौशल के लिहाज़ से पंतजी का ईर्ष्य आलोचकों के लिए ही नहीं, हमारे कवियों के लिए भी स्पृहणीय रहा है। हम यहाँ केवल उस आत्म-सजगता का, उस 'आत्म' का थोड़ा-बहुत विवेचन करने का प्रयत्न कर सकते हैं जिसका प्रतिफलन इस विपुल कृतित्व में हुआ है।

पंतजी का काव्य पढ़ते हुए पहली प्रतिक्रिया हमारे मन में यही उठती है कि इन कविताओं के पीछे जो मस्तिष्क कार्यरत है उसमें अपने समय और अपने अनुभव के प्रति एक जिज्ञासा—एक कौतूहली वृत्ति भी निःसन्देह विद्यमान है किन्तु यह वृत्ति एकाग्र नहीं है और आलोचना-विमुख भी है। उस मस्तिष्क के, उस 'व्यक्तित्व' के प्रति भी पाठक की हैसियत से हमारे मन में कोई उत्सुकता नहीं जगती। काव्य-पाठ के साथ इस व्यक्तित्व का कोई विकास या संघर्ष दिखता भी हमें महसूस नहीं होता : न कहीं कोई व्यंग्य-विनोद, न पीड़ा-कौतुक, न गहरी आसक्ति, न गहरी ऊब···कुछ ऐसी इकहरी बात है इस कविता की, जो इसे लगभग अवध्य बना देती है। आत्मालोचन निश्चय ही इस कवि के अनेक गुणों में शामिल नहीं है। तो क्या वह आत्म-सजगता इस आत्मालोचन को स्थगित और गुप्त रखने में ही है? पंतजी की कविता हमें किन्हीं विशिष्ट तनावों के बीच गुजरती, उनके भीतर से अपना मार्ग, अपना रूप ढूंढती नहीं मालूम देती? आत्मान्वेषण की जटिल प्रक्रियाएँ नहीं उभर पातीं? उनकी बुद्धि—कविताओं में कार्यरत उनकी बुद्धि—भी, हम देखते हैं कि नितान्त सरल सामान्यीकरणों में ही विश्राम पाने की अभ्यस्त है। तनाव और संघर्ष उनकी कविता में—देखे और पहचाने जाएँ, इसके पहले ही—बड़ी आसानी से हल हो जाते हैं। कभी-कभार, भूले-भटके वे शब्दों की सुरक्षित बाड़ से घिरे हुए शिल्पी की शान्ति को भंग करने सतह तक उभर भी आते हैं।···पर पूरी तरह उभर पाएँ, इससे पहले ही वह बाड़ उन्हें झौंक-झौंककर भगा देती है। अभिमंत्रित शब्दों की यह बाड़ इतनी सुरक्षित और दुर्लंघ्य है कि वास्तविकता के बड़े-से-बड़े आघात, वयस्क अनुभूतियों का तगड़े-से-तगड़ा रेला भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाता।

किन्तु नहीं; एक बार—भले ही सिर्फ एक बार—यह बाड़ बुरी तरह लड़खड़ा गयी थी···जाने कैसे एक बहुत भद्दी, बहुत बीभत्स और डरावनी छाया कवि के स्वप्न को रौंदती हुई भीतर जा धँसी थी और कवि चीखकर जाग पड़ा था। कला का महल बुरी तरह हिल उठा था···

> यहाँ न पल्लव वन में मर्मर, यहाँ न मधु-विहगों में गुंजन
> जीवन का संगीत बन रहा, यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन
> यहाँ नहीं शब्दों में बँधती, आदर्शों की प्रतिमा जीवित
> यहाँ व्यर्थ है चित्र-गीत में, सुन्दरता को करना संचित
> यहाँ धरा का मुख कुरूप है, कुत्सित गर्हित जन का जीवन
> सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या, जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन
> ··· ··· ··· ··· ···

मगर यह स्थिति अस्थायी थी। कवि फिर उसी नीड़ में लौट गया। शब्दों का वह सुरक्षा-व्यूह फिर ज्यों-का-त्यों सँवर गया। कला का महल टेढ़ा पड़ गया किन्तु कवि उसकी दरारों की चिन्ता किये बिना अपनी लीक पर बढ़ता गया। जीवनानुभूति का वह झोंका जो अभी-अभी उसे परस गया था, अब सदा के लिए उसकी कविता को छोड़कर चला गया। और उसका शिल्प? उसकी कला?···वह भी उसे दग़ा दे

गयी। 'पल्लव' और 'ग्राम्या' का नव-नवोन्मेषशाली शिल्प बिखरता-बिखरता धीरे-धीरे एक लोचहीन यांत्रिक अभ्यास मे परिणत हो गया।

पंतजी की यह परिणति कुछ-कुछ टेनीसन जैसी प्रतीत होती है। टेनीसन की ही तरह, हमें लगता है, पतजी भी अपनी महत्त्वाकाक्षा की बलि हो गये। पंतजी प्रकृति के कवि थे। इस दिशा में उनके जैसी तल्लीनता, उनकी जैसी चौकन्नी आँख किसी हिन्दी कवि को नसीब नही। वही उतना ही उनकी कवि-संवेदना का स्वाभाविक अधिकार-क्षेत्र था। उनकी कल्पना-शक्ति को सचमुच उत्तेजित कर सकने की सामर्थ्य केवल अनुभव के चित्रात्मक पहलुओ तक ही सीमित थी। निश्चय ही किसी कवि के लिए यह बहुत बडी सीमा है किन्तु यह सीमा उनकी विशिष्ट प्रतिमा की परिभाषा थी। उस प्रतिभा की सार्थक परिपूर्ति का असंदिग्ध आश्वासन भी। काश कि पतजी अपनी ही सरस्वती के प्रति सम्पूर्णत समर्पित होते और महत्त्वाकांक्षाओ को भी उसी से—उसी के भीतर—निर्धारित होने देते।

विडम्बना यही है कि यह समर्पण आशिक ही रहा। वह एकाग्रता उनसे नही सधी। सफलता के पहले ही दौर में अपने युग का प्रतिनिधि और पुरोधा कवि बनने की लालसा ने उन्हे ग्रस लिया।

उनकी लालसा पूरी हुई। वे प्रतिनिधि और पुरोधा बनते गये और अपनी कविता से बिछुडते गये। अपनी वास्तविक प्रतिभा को भूलते गये। हिन्दी साहित्य-समाज ने भी अपनी ओर से इस उतार को आसान और सुविधाजनक बनाने मे कोई कसर नहीं छोडी। प्रसिद्धि का रंगमहल आनन-फानन मे उनकी जीवित कविता को घेरकर खडा हो गया और उसे एक सार्वजनिक मूर्ति मे ढालने लगा। नतीजा यह निकला कि कविता एक यांत्रिक अनुष्ठान बनकर रह गयी।

बहरहाल, क्या हुआ होता यह सोचना फिजूल है, केवल साहित्यिक निन्दा-स्तुति का समाजशास्त्र इस समस्या का समाधान नही कर सकता। प्रतिमा को विचलित करना आसान नही होता। प्रसाद क्या उस युग मे भी साहित्यकार की विवेक-चेतना के ज्वलन्त उदाहरण नही? और निराला? उन्हे भी क्या हम अपने परिवेश मे व्याप्त इस भोथरेपन और आत्मतुष्ट क्षुद्रता व अहंमन्यता के खिलाफ निरन्तर संघर्षरत नही देखते? प्रसाद मे यदि एक निर्लिप्त उदासीनता का भाव है तो निराला मे एक अधीर, असहिष्णु आवेश है जो इस भद्दी वास्तविकता से अपनी टकराहटो को भी जीवित नाटक और सनसनीखेज दस्तावेज की तरह कविता मे बदल डालता है। परिस्थिति से मौलिक प्रतिशोध ले लेता है: 'ईर्ष्या मुझको कुछ नही, यद्यपि/मैं ही वसन्त का अग्रदूत/बन गया आज यदि पार्श्वच्छवि/ब्राह्मण-समाज मे ज्यो अछूत/फल सर्वश्रेष्ठ नायाब चीज/या तुम बाँधकर रँगा धागा/फल के भी उर का कटु त्यागा/'मेरा आलोचक एक बीज' /···जैसी पक्तियाँ मिसाल के तौर पर उद्धृत की जा सकती हैं।

हम पंतजी की बात पर लौटें। उनके किशोर काव्यलोक मे हिन्दी ने अपनी कुछ सर्वथा नयी छवियो और भगिमाओ को उद्घाटित होते देखा ...

खड़ी बोली ने मानो अकस्मात् उसमें अपना यौवन और शौर्य प्रतिबिम्बित देखा था। अपने भीतर एक नयी ताजगी, एक नये उन्मेष का अनुभव उसने इस कवि के साथ जाना था। किन्तु इस युवा-ऊर्जा के प्रथम विस्फोट के बाद यह ताजगी कुम्हलाती गयी। न केवल अनुभूति का, बल्कि उसकी कल्पनात्मक अदायगी का स्तर भी क्रमशः गिरता गया। उसमें मिलावट बढ़ती गयी, यहाँ तक कि 'युगवाणी' तक पहुँचते-पहुँचते (यह शीर्षक ही क्या उस विडम्बना का पूर्वाभास नहीं?) हम पाते हैं कि कवि की अपनी व्यक्तिगत, मौलिक आवाज़ न जाने कहाँ गुम हो गयी है और उसकी जगह उस समय के विचारों की क्षीण प्रतिध्वनियाँ छा गयी हैं। ये विचार कवि की स्वाभाविक संवेदना में घुस-पैठ कर उथल-पुथल नहीं मचाते; उसकी कल्पना-शक्ति का सहयोग नहीं पाते। यह केवल एक सुरक्षित दूरी से उनका चिन्तन करता है, उनसे टकराता नहीं; उनका उपयोग भर कर लेता है अपनी कविता का—बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि अपनी काव्यरुचि का—दायरा बढ़ाने के लिए। उसमें कोई जबर्दस्त मानसिक उलझाव उसका नहीं होता। विचार विचार ही बने रहते हैं, कवि के आवेगों की शक्ल में नहीं ढलते। लिहाजा हमारी पाठकीय प्रतिक्रिया भी अनुभव की नहीं होती; एक अप्रत्यक्ष अमूर्त विचार के ठण्डे-कुनकुने चिन्तन की ही होती है। उसके पद्यबद्ध होने से कोई ज्यादा फ़र्क नहीं पड़ता। हम महसूस करते हैं कि यह चिन्तनशीलता का तत्त्व 'गुंजन' में भी था। लेकिन वहाँ कुछ कविताएँ ऐसी थीं जो इस अतिरिक्तता को भी अपने भीतर समा लेती थीं क्योंकि तब उनकी कल्पना में उसे अपने चुम्बकीय क्षेत्र में खींच लेने की शक्ति थी। दूसरे कविता अनुभूति से, हृदय-संवेदन से मूलतः प्रेरित होती थी और विचार कमोबेश उसकी एक स्वाभाविक परिणति की तरह अपनी जगह विन्यस्त हो जाता था। उदाहरण के लिए हम 'नौका-विहार' शीर्षक कविता को ही लें। उसका समापन विचार में होता है किन्तु जब तक वह विचार आता है तब तक कविता में व्यक्त अनुभव के साथ हमारी सहानुभूति इतनी एकजान हो जाती है कि हम उसे न केवल सह लेते हैं, बल्कि उसे अनिवार्य भी मान लेते हैं। यह अनिवार्यता 'युगवाणी' के पद्यों में नहीं है। वे विचार में ही शुरू और खत्म हो जाती हैं। कवि की जिस व्यक्तिगत अनुभूति और संवेदना का परिचय हमें उसकी पिछली कविताओं से मिला है, उसमें किसी मौलिक रासायनिक परिवर्तन का अहसास हमें नहीं होता, क्योंकि उसकी कल्पना-शक्ति को सचमुच उत्तेजित कर सकने लायक दवाब इन विचारों का उसकी संवेदना पर नहीं पड़ा। वयस्क विचारों का आयात जरूर हुआ मगर अनुभूति और संवेदना किशोर ही रही आयी।

हुआ यह कि कवि संवेदना से तो वयस्क संसार के अनुभवों को पचाने में अक्षम था किन्तु युग का प्रतिनिधित्व करने की आकांक्षा इतनी बलवती थी कि वह उस समय की वैचारिकता को अपने काव्य में झलकाने का प्रलोभन नहीं रोक सका। और उन विचारों को ही अनुभवों का स्थानापन्न मान बैठा। स्वाभाविक दृष्टि से ...कि कवि-स्वभाव में बुद्धि और भावना के बीच कोई जबर्दस्त तनाव-बनामकश

की सम्भावना नहीं थी : जटिल अनुभूतियों का कवि वह नहीं था। लिहाज़ा ये विचारणाएँ उसके कवि-स्वभाव की सतह पर ही सक्रिय रहीं; अन्दरूनी तौर पर उसकी मानसिकता को नहीं बदल पायीं। समस्याओं के सरलीकरण से वह कभी उबर नहीं पाया। निश्चय ही रुचि के इस सतही विस्तार का कुछ लाभ उसकी संवेदना को मिला। किन्तु वह मिला बाद में, "ग्राम्या" में आकर, जहाँ कि उसकी आँख के रास्ते दिमाग पर ज़ोर डाल सकने लायक़ परिस्थितियाँ—अनुकूल परिवेश—उसके सामने थे। इसके विपरीत 'युगवाणी' में कवि की ऐन्द्रिक चेतना बिलकुल सुन्न और बेरोज़गार है।

प्रचलित विचारों के इस आकर्षण ने कवि को उसके स्वाभाविक कार्यक्षेत्र से हटा दिया। शिल्प की प्रत्यासन्न, तात्कालिक समस्याओं को सुलझाने में जो बुद्धि काफ़ी सक्षमता और सफलता के साथ नियोजित होती थी, वह उसकी कौतूहली वृत्ति और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में जुट गयी। इस प्रकार जो कुछ क्षीण मगर सच्चा रिश्ता उसकी बौद्धिकता का उसकी कविता से स्वभावत: बना हुआ था, वह गड़बड़ा गया। वह सीधी संवेदना और ऐन्द्रिक अनुभूति के स्तर से जो एक बार उतरकर विचारक कवि बना तो बस, उतरता ही चला गया। इस उतार की लम्बी शिथिल प्रक्रिया में सिर्फ़ एक अन्तराल ऐसा आया 'ग्राम्या' का जहाँ उसके कवि के आँख-कान खुले। उसके और हमारे सौभाग्य से कवि को पहली बार प्राकृतिक सौन्दर्य की पृष्ठभूमि में जीवित-यथार्थ मानवाकृतियों को देखने का मौका मिला। एक ओर इस सुन्दर 'दृश्य-गन्धमय निर्जन कान्तार' ने उसके बहुत दिनों से सोये पड़े जन्मजात प्रकृति-संवेदन को उकसाकर उसकी काव्य-कल्पना को समुचित उत्तेजन दिया और दूसरी ओर अपने युग के वैचारिक-मन्थन का जो नया-नया कौतूहल उसमें जगा था, वह भी थोड़ी हरकत उसकी संवेदना में पैदा करने लगा। मानव-आकृतियों की इतनी समीपता ने जहाँ एक ओर उसकी चित्रात्मक कल्पना को, आँखों को उद्वेलित किया, वहीं अपने वैचारिक कौतूहल के स्तर पर उनकी समस्याओं से सहानुभूति भी पैदा की। इस प्रकार मूर्त और अमूर्त का कुछ ऐसा रचनात्मक तनाव कवि के मन में अनायास पैदा हो गया कि जैसा न पहले कभी हुआ था, न फिर कभी बाद में ही वैसा संयोग घटित हुआ। देखे-सुने जीवन का यह उद्वेलन ज्यों ही चुका त्यों ही यथास्थिति फिर लौट आयी। स्वयं 'ग्राम्या' में इस रचनात्मक तनाव की अस्थिरता और भंगुरता के संकेत काफ़ी मात्रा में मौजूद हैं। किसी भी तीव्र उत्तेजन या तनाव की मन स्थितियों को यह कवि देर तक झेल नहीं सकता, इस तथ्य को 'ग्राम्या' की कविताओं से ही सिद्ध किया जा सकता है। कवि की स्वाभाविक आकांक्षा का धरातल विश्राम पाने का है, चाहे वह प्रकृति-चित्रों की दिवास्वप्निल रंगीनियों में मिले; चाहे जीवन-जगत् की सदिच्छापूर्ण चिन्तना में जो कि जटिल-से-जटिल समस्याओं को भी बिना किसी टकराहट के सुलझा देती हैं।

'छायावाद' की संज्ञा अपनी तिरस्कार और उपहास की व्यंजनाओं के साथ काफ़ी दिन घिसट चुकी। एक समूचे काव्यान्दोलन को, जिसमें इतनी प्रतिभाओं का

इतना वैविध्य आ जुटा था, उसे परिभाषित करने के लिए यह संज्ञा सर्वथा अनुपयुक्त है। 'प्रयोगवाद' जितनी सार्थकता भी इसमें नहीं है। उसमें तब भी एक औचित्य है, जो छायावाद में नहीं है। छायावाद से एक तरल रोमानीपन का, धुंधली स्वप्निलता का, पलायनवादी मानसिकता का द्योतन होता है : क्या ये धारणाएँ निराला की कविता के साथ न्याय करती हैं जहाँ हमें न केवल भावनाओं की एक अनोखी त्वरा और तेजस्विता मिलती है, बल्कि उनके भीतर एक प्रकार की अन्तर्दृष्टि भी। न यह जयशंकर प्रसाद की सूक्ष्मतर प्रतिभा का ही कोई अनुमान हमें करा दे सकता है, क्योंकि 'छायावाद' की जो व्यंजनाएँ हैं, प्रसाद की कविता का आचरण और गुण उनके ठीक विपरीत पड़ता है। जहाँ तक पंत जी का प्रश्न है, उनकी भी सर्वोत्तम कविताएँ इस नाम की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। इतना ज़रूर है कि पंत जी के कवि-स्वभाव में कुछ ऐसी असाध्य स्वप्निलता और यथार्थभीति है और कवि-व्यक्तित्व भी कुछ ऐसा केन्द्रहीन-ढुलमुल है कि लगता है, छायावादी कवि बस वहीं हैं। अनुभव की पारदर्शिता उनके यहाँ मुश्किल से मिलती है और 'तप' भी उनके यहाँ 'मधुर-मधुर' ही है। यह शब्द-सुरक्षा उन्हें तीव्र संवेदनाघातों से बचाती रहती है। अनुभव की, यथार्थ की कोई भी चुनौती कविता में कारगर नहीं हो पाती। फिर उनमें प्रारम्भ से ही अपनी अनुभूति के अलंकरण का भी एक अजीब अबूझ आग्रह रहा है जो उन्हें किसी चीज को साफ-साफ़ देखने-झेलने नहीं देता। मिसाल के तौर पर हम उनकी एक आरम्भिक कविता 'छाया' को ही लें। इसमें उनकी कई चारित्रिक विशेषताएँ झलक आयी हैं। जब यह छपी थी, तब इसकी काफी धूम मची थी। मुझे खुद इस कविता के प्रथम पठनानुभव की याद आज भी ताज़ी है कि मैं किस क़दर रोमांचित हो उठा था इसे पढ़ते-पढ़ते। उन दिनों पंतजी को छोड़ और कोई कवि अच्छा लगता ही नहीं था। मुश्किल यही है कि पंतजी की कविताओं का स्वाद उम्र बढ़ने के साथ-साथ पता नहीं क्यों घटता जाता है। वह ताज़गी जो कभी इन्हें पढ़कर होती थी, अब इन्हें नहीं होती। इस कविता को इतने बरसों बाद फिर से पढ़ने पर कुछ ऐसी निराशा हुई जिसके लिए अपने सारे मोहभंग के बावजूद मैं तैयार नहीं था। कारण वही, इसके प्रथम पाठ की तीव्र उत्तेजना का स्मरण। एक और मज़ेदार बात इस बीच हुई। 'छाया' की पुनरावृत्ति के दौरान मुझे कुछ समय पूर्व पढ़ी गयी जयशंकर प्रसाद की एक कविता 'विषाद' ('झरना' में संकलित) याद आयी। इन दोनों कविताओं को साथ-साथ पढ़ना दोनों कवियों की प्रवृत्तियों और क्षमताओं को निकट से समझने में सहायक हो सकता है। यहाँ पूरी कविताएँ उद्धृत करना तो सम्भव नहीं है, किन्तु इतनी अपेक्षा पाठक से की जा सकती है कि विश्लेषण के लिए कविताएँ सामने हों। दोनों कविताएँ इन कवियों के आरम्भिक दौर की हैं। इतना ही नहीं, दोनों की रचना-सम्बन्धी परिस्थितियों में भी कहीं कुछ साम्य नज़र आता है। समझ के लिए इस तुलना का इतना औचित्य स्पष्ट ही है।

> कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्ष-पत्र की मधु छाया में
> लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में

यह जयशंकर प्रसाद की कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं। अब आइए पंतजी की 'छाया' में—

> कौन कौन तुम परिहत-वसना, म्लान-मना भू-पतिता सी
> वात-हता विच्छिन्न लता सी, रति श्रान्ता व्रज-वनिता सी
> नियति-वंचिता आश्रय-रहिता, जर्जरिता पद-दलिता सी
> धूल-धूसरित मुक्त-कुन्तला, किसके चरणों की दासी

क्या ये प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही इन दो कवियों के कवि-स्वभावों का, इनकी संवेदनाओं के गुण-धर्म का, तथा शब्दों के प्रति इनके रख और बरताव का अन्तर स्पष्ट नहीं कर देतीं? प्रसाद की पंक्तियाँ [कविता की केन्द्रीय मन स्थिति और प्रेरणा को बिना किसी लाग-लपेट, टूल-तूमार के उसकी तात्कालिक सजीवता में सीधे और अचूक ढंग से स्थापित कर देती हैं। वे हमारी संवेदना और कल्पना को प्रत्यक्ष अनुभव की तरह तुरन्त पकड़ लेती हैं। कवि के 'आत्म' (कहना चाहें तो कहें, व्यक्तित्व का) का सीधा आवेगपूर्ण तादात्म्य उस 'वस्तु' के साथ स्थापित हो गया है और यह केवल एक खास अनुभूति भर नहीं है: जो हम तक संप्रेषित हुआ वह एक तीव्र अनुभूति ही नहीं, अपितु उस अनुभूति का साक्षात्कार भी है। कवि की समूची संवेदना उस विषय वस्तु की तरफ बिजली की कौंध-सी लपक उठती है और उससे एकात्म हो जाती है। और इस एकात्म्य की सार्थकता भी उसी कौंध में स्पष्ट हो उठती है। पंतजी की पंक्तियों का अनुभव क्या कहता है? प्रसाद की पंक्तियों में हमें ऐसा नहीं लगता कि विषय-वस्तु कवि के बाहर खड़ी उसका इन्तजार कर रही हो उसे आमन्त्रण देती···कि आओ, मैं भी एक काव्य-विषय हूँ, मुझे अपनाओ, मुझ पर कविता करो। पंतजी की वाग्धारा क्या ऐसा आभास नहीं देती? पंतजी के यहाँ क्या ऐसा नहीं लगता कि कवि कुछ दूरी पर खड़ा अपने 'विषय' को कौतूहल से निहार रहा है और उसके बारे में एक के बाद एक उद्भावनाएँ उसके मन में उठती जा रही हैं। निश्चय ही ये उद्भावनाएँ रोचक हैं, पर वे हैं 'उद्भावना' ही; और उनका स्रोत चित्त की चंचलता में है; अनुभूति की तीव्रता या गहराई में नहीं। ये उद्भावनाएँ ही हैं; सर्जनात्मक कल्पना नहीं क्योंकि सर्जनात्मक कल्पना का एक केन्द्र होता है, जबकि ये उद्भावनाएँ एक-दूसरे से स्वतंत्र, सर्वथा विकेन्द्रित हैं। कोई विशिष्ट अन्तर्जीवन या विशिष्ट अनुभूति इन्हें एक-दूसरे में नहीं पिरोती। यह कल्पना का उत्तेजन नहीं: अधिक-से-अधिक इसे कल्पना की क्रीड़ा या विलास कह सकते हैं। वैसे इसे विधायक कल्पना कैसे कहें, यह समझना मुश्किल है। सूझ अलबत्ता इसे कह सकते हैं क्योंकि कल्पना में मुक्ति नहीं तो कम-से-कम एक लोच और लाघव तो होता है। मगर ये पंक्तियाँ अपनी सारी फुर्ती और चुस्ती के बावजूद हमें बोझिल करती हैं। उपमानों की इस भीड़ में कवि स्वयं ओझल हो गया है। कवि स्वयं ओझल हो जाए, यह तो बहुत अच्छा लक्षण है मगर विडम्बना यह है कि कवि के साथ-साथ उसकी कविता भी ओझल हो जाती है। शायद हम इतना कह रहे हैं। कवि ओझल कहाँ है? वह तो हम पर बराबर हावी है। शुरू में ही इतने उपमान एक साथ अपने निरीह पाठक पर बरसा देने में उसका मक़सद क्या

है ? यही न, कि वह उसे प्रभावित और आतंकित कर देना चाहता है। अपनी विलक्षण, अजीबोगरीब सूझों से ! हम इन सूझों से चकित-विस्मित हो जाते हैं। पहले-पहल शायद प्रसन्न भी। पर क्या जल्द ही यह प्रसन्नता खीझ में नहीं बदलने लगती ? पहली दो पंक्तियों तक तो ठीक-ठाक ही है। कवि का कौतूहल हमें भी अनुभव होता है। तीसरी पंक्ति हमें संस्कृत कविता की एक काव्यरूढ़ि की याद दिलाती है और उसका यह इस्तेमाल भी हमें शायद नहीं खटकता। यहाँ तक तो भी गनीमत है; मगर चौथी पंक्ति तक आते-आते हमारे कान खड़े हो जाते हैं। कवि की अनुभूति पर तो जो शंका हमारे मन में उठ रही थी, वह तो थी ही, अब उसकी 'रुचि' भी हमें सन्दिग्ध लगने लगती है। अगली पंक्ति जैसे ही हमें थोड़ा आश्वस्त करती, वैसे ही 'जर्जरिता' पददलिता की पिष्टपेषित यांत्रिकता हमें बुरी तरह उबा देती है। 'वातहता विच्छिन्न लता' के बाद भी कवि को इस पंक्ति की जरूरत थी ! झुँझलाकर हम कह उठते हैं कि जरूरत तो कविता के लिए इनमें से एक पंक्ति की भी नहीं थी और सचमुच किसी अन्दरूनी जरूरत के तकाजे से यह कविता लिखी ही नहीं गयी।

क्या प्रसाद की कविता में भी अनुभूति का अलंकरण दीखता है ? अलंकरण तो दूर, क्या इनका प्रयोजन वर्णनात्मक तक है ? क्या ये उपमा 'अलंकार' जैसी भी दीखती हैं ? क्या इनमें रूपक की सर्जनात्मकता नहीं अनुभव होती ? 'मधु' प्रसाद जी को जरा जरूरत से ज्यादा प्रिय है और उनकी इस लत के लिए हम चाहे जितना उन्हें लताड़ें; उनका—उनकी कविता का—इससे क्या कुछ बिगड़ता है ? भरती का तो वह भी नहीं है मगर उसे ऐसा मान भी लें तो वह इतना चुप और बेचारा है कि उसकी उपस्थिति को आप आसानी से अनदेखा कर सकते हैं।

उपमा ही इन्हें कहना चाहें तो ये उपमाएँ पंतजी की उपमाओं की तुलना में कितनी अमुखर-शान्त हैं और कितनी सारभूत ! ये काव्यवस्तु की गहरी भावना में से उपजी हैं; पर निरी भावनात्मक ये नहीं लगतीं। इन्हें देखकर 'अर्थगौरव' वाली बात समझ में आती है : इतना सटीक और सुनिश्चित अर्थ इनमें आ सिमटा है; पर निरी बौद्धिक भी ये नहीं हैं। ये भावना और विचार के, कल्पना और बौद्धिकता के तीव्र रासायनिक संयोग का प्रतिफल हैं। थोड़ा और रहस्यवादी अन्दाज अपनाएँ तो कहें, यह वस्तु की भावना का बुद्धि-फल है। ये उपमाएँ हमें इधर-उधर भटकाती-बहलाती नहीं; ये हमें विषय-वस्तु में सीधे पैठा देती हैं; कवि की आन्तरिकता में हमें इस कदर निमग्न कर देती हैं कि उसकी इस विशिष्ट अनुभूति से हमारा एकदम तादात्म्य हो जाता है। वह अनुभूति हमारे भीतर भी उसी तरह रच जाती है। यह एक विशिष्ट मनःस्थिति और एक व्यापक मानवीय स्थिति दोनों का इकट्ठा स्वाद देती है। हालाँकि कवि का अन्दाज स्थिति के कथन और आकलन का ही है, उसके विभोर गायन का नहीं है। फिर भी क्या बात है कि ये पंक्तियाँ गाती हुई—गीति के साथ [illegible] मुक्त उठती हुई हमें महसूस होती हैं ? ऐसा क्यों है (यदि ऐसा है तो) ? क्या [illegible] कारण यही नहीं, कि बात भी यह कवि के अन्दर है ? तभी न एक गानतरा-

पूर्वक संप्रेषित मन:स्थिति को अनुभव करने के अलावा हम 'कुछ और' भी अनुभव करते हैं ! कविता में आगे बढ़ते हुए हमारा ध्यान बराबर संकेन्द्रित रहता है उसी बात पर; उसी अनुभव और मर्म पर। और प्रत्येक अवतरण इस मर्म से स्पन्दित है। शब्द इतने एकाग्र और शान्त भाव से उसी मर्म का पीछा कर रहे हैं कि हमारा ध्यान ही उनकी ओर नहीं जाता। वे अलग से अपने महत्त्व का बोध नहीं कराते। वे एक ओर तो अनुभूति पर एकाग्र रहकर उसका सार धीरे-धीरे निचोड़ लाते हैं और दूसरी ओर इतने सन्नद्ध हैं कि किसी फालतूपन को, किसी अतिरिक्त प्रलोभन या आकर्षण को पास नहीं फटकने देते। रक्त-वाहिनियों के अन्दरूनी किवाड़ों की तरह वे सही चीज़ को भीतर लेने और विजातीय द्रव्य को बाहर फेंक देते हैं। उनका काम अनुभूति की शुद्धता और तीव्रता को कायम रखना और साथ-ही-साथ उसे गाढ़ा—सारभूत करना भी है।

पंतजी के शब्द बहुत बातूनी हैं। फिर भी राजदाँ क़तई नहीं हैं। वे हमें अपने भीतर नहीं ले जाते, बाहर से ही चमत्कृत करते हैं। उनमें अपनाव नहीं, प्रदर्शन है। कविता नहीं, कवि है। और यह कवि हमें अपने कौशल से प्रभावित करता है: प्रत्येक पंक्ति मानो चिल्लाकर कह रही है कि "आप मुझे सराहते हुए पढ़ें। और अर्थ? वह आप स्वयं गढ़ें।"

प्रसाद की कविता के केन्द्र में एक निश्चित अनुभूति का स्पन्दन हमें महसूस होता है। पंत की कविता के केन्द्र में क्या है? इससे लगी-जुड़ी यह भी एक समस्या है कि क्या इस कविता का कोई केन्द्र है भी? प्रसाद की कल्पना उनकी अनुभूति के समकक्ष है और उसे पकड़ती ही नहीं, अन्य अनुभवों और संज्ञानों से संयुक्त करके उसका वातावरण जैसा कर देती है। पर पंतजी की कल्पना अनुभव से स्वतन्त्र, छुट्टी बिजली जान पड़ती है। पंतजी की ये उपमाएँ, अलंकार हममें संस्कृत के अलंकृत काव्य का स्मरण जगा देती हैं। इस स्मरण के लिए हम कवि को सराहते हैं और एक प्रकार का सन्तोष भी अनुभव करते हैं। किन्तु यह मनोरंजन जब लगातार खिंचता ही चला जाता है, तब सहज ही हमें शंका हो जाती है कि आखिर इस सबका हेतु क्या है? औचित्य क्या है? ये उपमाएँ, इतने सारे शब्द कहीं किसी अनुभूति या अनुभव से जुड़े भी हैं? हमारा कुतूहल ऊबने लगता है और एकाग्रता का अहसास बिखराव और अटकाव का अहसास बन जाता है।

बाहरी तौर पर यह एक विषयबद्ध कविता है और कवि इस विषय की कल्पना और विचारणा करना चाहता है। मगर यह भावना एकाग्र नहीं हो पाती। ये शब्द हमें कुछ बड़े लगते हैं क्योंकि कवि इनसे घनिष्ठ और संवेदित नहीं लगता। ये उसे उसकी कौतुकप्रियता से ही सूझे हैं और इनमें उसका अपना आत्मदान, अपनी संवेदना कहाँ है? इनमें सफाई और मार्मिकता के बजाय कौशल के दर्शन होते हैं। स्वाभाविकता की बजाय सजावट और वैचित्र्य और ही अधिक दिखाई पड़ता है। पूरी कविता में से गुज़र जाने के बाद भी इन उपमानों-विशेषणों की सार्थकता के बारे में आश्वस्त नहीं हो पाते। [illegible]

कवि की व्यक्तिगत चेतना से, उसकी अपनी निजी जीवनानुभूति से क्या रिश्त
जिस तरह कवि विशेषण पर विशेषण, अलंकार पर अलंकार बटोरता जाता है,
तरह वह जगह-जगह अपने भावों और प्रतीतियों को दुहराता जाता है उसे देख
यही लगता है कि अपनी अनुभूति को पकड़ने और एकाग्र करने के बजाय वह
फुला और बिखरा रहा है। कवि-मन की कोई मौलिक रूपकात्मक प्रवृत्ति का बि
हमें नहीं होता। जिन गुणों को हम अनुभव करते-सराहते हैं, वे हैं : एक उत्का
शक्ति, वर्णनात्मक शक्ति और चित्रात्मकता। मुश्किल यह है कि उसके कौशल
सराहते हुए अर्थ और अनुभूति पकड़ में नहीं आते या आ-आकर छूट जाते हैं।
पूछने लगते हैं कि इन शब्दों में कैसा और कितना जीवन है? कवि की वैयक्ति
जीवनानुभूति से वे निश्चय ही स्पन्दित नहीं हैं। वे भावुक कल्पनाएँ हैं जिनमें अनु
का विवेक सक्रिय नहीं; जो अनुभव को अतिरंजित और कृत्रिम बना देती हैं। प्रस
में अनुभूति एक सघन बिम्ब रचती है : अपने अनुरूप स्वयं पर्याप्त, एकमात्र संभ
अभिव्यक्ति में पूरी तरह समाकर प्रकट होती है :

> किसके तममय अन्तरतम में, झिल्ली की झनकार हो रही
> स्मृति सन्नाटे से भर जाती, चपला से विश्राम सो रही

इसे आप बिम्ब न कहें, रूपक ही कहें। मगर यह रूपक क्या हमें पू
औचित्य, पर्याप्तता और सांकेतिक दृष्टि से समृद्ध नहीं लगता? अनुभूति और उसकी
बौद्धिक पकड़ (अर्थ) क्या इसमें संश्लिष्ट नहीं हो जाते? दूसरी ओर पन्त जी को
पढ़िए :

> चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी, नीरवता की सी झंकार

क्या यह अनुभूति है? या अनुभूति की व्याख्या? यह जीवित भाव का
सजीव रूपक नहीं है; एक बौद्धिक अमूर्तन है जिसका हमें अनुभव नहीं होता। यह
अमूर्तन सायास गढ़ा गया जान पड़ता है; अनुभूति से नहीं, वस्तु की सीधी संवेदना में
से नहीं बल्कि एक रूढ़ भाव की अप्रत्यक्ष प्रेरणा से, धारणा के स्तर पर, [illegible]-
पूर्वक।

इस कविता के विश्लेषणात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पंतजी की
काव्यप्रेरणा में कहीं कुछ कृत्रिमता का तत्त्व भी है। यह भी हमें महसूस होता है
कि पन्तजी की कल्पना में वैचित्र्य-मोह भी जरूरत से ज्यादा है। दुराग्रह [illegible]
का आग्रह, धुंधले अमूर्तनों का मोह भी उनमें हम देख पाते हैं। ये अमूर्तन और
माधुर्य-चेष्टाएँ पाठक से किसी गहरे जुड़ाव का, सार्थक सम्बन्ध का आश्वासन प्रदान
ही नहीं दे पातीं।

यदि हम जरा गौर करें तो दोनों कविताओं में कुछ भावों और अभि-
व्यञ्जनाओं में एक अद्भुत साम्य दिखाई देता जो हमें अचरज में डाल देता है। प्रसाद
की कविता के कुछ केन्द्रीय शब्द के [illegible] समानान्तर [illegible] के साथ पंतजी
[illegible] निर्वेद, करुणा, संसार, स्मृति, विश्राम भाव ([illegible]
[illegible] हो जाते हैं) [illegible], वास्तव में प्रसाद की कविता [illegible]

पहले की है। जो बात हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहती वह यह है कि प्रसाद मे जो शब्दभंगिमाएँ अत्यन्त मार्मिक और सूक्ष्म-सांकेतिक अर्थसंपन्न प्रतीत होती हैं, वे पंत मे फैलकर चपटी हो जाती हैं : वैशिष्ट्य खोकर अमूर्त और व्याख्यात्मक बन जाती हैं। हम अचरज मे पड़ जाते हैं कि जो चीज एक कवि मे स्पष्ट और विशिष्ट-एकाग्र है, वही दूसरे कवि में अस्पष्ट और अमूर्त-सामान्यीकृत क्यो हो जाती है ? प्रसाद की छाया 'छायावादी' (अनिश्चित-अनेकाग्र) नहीं है। पंतजी की छाया इस आरोप को आमंत्रित करती जान पड़ती है। प्रसाद की 'छाया' में व्यक्तिगत भाव और आवेग की अटपटी और स्थूल बेचैनी को सार्थक अनुभूति के सूक्ष्म सारमय संघटन में बदलने की ताक़त है। क्या यह दावा पतजी की 'छाया' कर सकी है ?

- निर्झर कौन बहुत बल खा कर, बिलखाता ठुकराता फिरता
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का विश्रान्त चरण है

यह रहे प्रसाद। पंतजी की भाषा मे जो सफ़ाई और सुरुचि-सुघरता है, उसके मुकाबले प्रसाद की भाषा 'अटपटी बानी' लगती है। मगर बात कहाँ बनती है ?···किसमें उस बात की जड़ है; किसमे केवल पत्ते ?···यह आप स्वयं तुलना करके (पूरी कविता के परिप्रेक्ष्य मे) देख सकते हैं। ये हैं पंतजी :

कालानिल की कुंचित गति से, बार-बार कम्पित हो कर
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर, नीरव शब्दों में निर्भर
किस अतीत का करुण चित्र तुम, खींच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन वेदना, विफल लालसाओं से भर

प्रसाद के यहाँ छाया 'अनुभूति' थी; राशीभूत और एकीकृत 'संवेदना' थी। यहाँ 'छाया' उस छाया की भी छाया है। वहाँ सार-संचयन था। यहाँ विस्तृत सन्दर्भ-संवलित विशद मनोरम व्याख्या है।

'छायावाद' हमारी काव्य-संवेदना के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। अपनी सर्वोत्तम उपलब्धियों मे यह उन गुणों का पोषक-संरक्षक बना जो कबीर के बाद हिन्दी कविता से ग़ायब हो गये थे। रूढ़ि और स्थूल इतिवृत्त के विरुद्ध सर्जनात्मक संघर्ष इसकी मूल प्रतिज्ञा थी। इसकी अधोगति तब से शुरू हुई जब कवि वैचित्र्य के लिए वैचित्र्य के आग्रही हो गये और कल्पना तथा प्राणशक्ति का हरजाना शब्दों के रूप-रंग के प्रति एक अतिरिक्त, एकान्त निष्ठा से और भावातिरेक से भरने लगे। इस मोड़ को लाने में जयशंकर प्रसाद की प्रतिभा ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने एक ओर द्विवेदी-युग में अर्जित गद्य-मूल्यों के अनुशासन को पूरी तरह अपनी काव्यभाषा मे पचाया और दूसरी ओर उसमें वह—मात्रा में स्वल्प, किन्तु गुण में बृहत्—खमीर पैदा किया जिसने भाषा मे एक नयी आन्तरिकता, आत्मीयता और वाग्मुक्ति संभव बनायी (प्रयोगवाद के जमाने में हम 'अज्ञेय' की मार्फ़त भी कुछ-कुछ ऐसा ही रूपान्तर घटित होते देख रहे हैं : पहले निर्वाह, फिर स्वतंत्रता)।

रागात्मकता को सचमुच उद्दीप्त कर सकने वाला तत्त्व चित्र-तत्त्व ही है। जब उनकी आँख सचमुच किसी मनोरम वस्तु या दृश्य में रम जाती है और जब यह दृश्य इस कोटि का होता है कि उन्हें दिवास्वप्न की तरह अपने में तल्लीन कर सके, तब उनकी भावनाएँ भी सचमुच जग जाती हैं और तब वे अपनी भावानुभूतियों को रमणीयता और सूक्ष्मता के साथ अंकित कर सकते हैं। जब वे केवल अपने इस मुग्ध 'देखने' को ही पूरी एकाग्रता के साथ अंकित करते हैं, जब वे विचार में बहके बिना केवल इस देखने की क्रिया से समुत्तेजित अपनी रागात्मकता को ही सन्तुष्ट भाव से चित्रित करते हैं, तब उनकी कविता एक विलक्षण और वैयक्तिक विशिष्टता प्राप्त कर लेती है। और उन विरल सौभाग्यशाली क्षणों में, जब यह कवि अपने अवचेतन की गहराइयों में निमग्न बचपन की संस्मृतियों से, बचपन के रूप-चित्रों से एकाकार होता है और अपनी कल्पनाशक्ति को उन पर एकाग्र होने देता है, तब उसकी पंक्तियाँ एक अद्भुत सौन्दर्य से आलोकित हो उठती हैं और उनकी सारी सीमाओं से उबरकर एक शाश्वत ताज़गी और दीप्ति प्राप्त कर लेती हैं। तब वे हमारी संवेदना को, हमारी सूझ-बूझ को पूर्णतः आवर्पित कर लेते हैं और एक प्रकार का मानसिक तादात्म्य हमारा उनसे हो जाता है जिसमें अवचेतना अवचेतना को छूती है। उनकी 'हिमाद्रि' शीर्षक कविता की याद बरबस आ जाती है इस प्रसंग में।

वैसे भी, जब कभी कोई उनकी वृत्तियों के अनुकूल रूपचित्र उनकी आँखों की राह कल्पना को पकड़ लेता है, वे बेजोड़ प्रभावों की सृष्टि कर देते हैं। दृष्टान्त देखना हो तो ग्राम्या की 'दिवास्वप्न' शीर्षक कविता को या इससे भी अधिक रमणीक 'ग्रामश्री' को लिया जा सकता है। ये शुद्ध, स्वयंपर्याप्त आस्वादन और वर्णन की कविताएँ हैं; भावुक उद्गारों-विचारों से अपेक्षाकृत मुक्त और निर्विघ्न। यह कवि की अपनी ज़मीन है। उसकी वास्तविक अनुभूति, वास्तविक आसक्ति और वास्तविक प्रेरणा का क्षेत्र है ऐसा हमें इनमें से गुज़रते हुए अनुभव होता है। यहाँ शब्द-संवेदना स्वतःस्फूर्त और लाघवयुक्त है। विचारणा इस कवि को बेहतर कवि नहीं बनाती; उल्टे उसकी कविता में पानी मिला देती है। विचारों में उसकी दिलचस्पी ऊपरी-ऊपरी ही जान पड़ती है। ऊपरी वह न भी हो, तो भी कवि की हैसियत से उसके लिए वे विशेष प्रासंगिक और कारगर नहीं हो पाते। एक-दो अपवाद अवश्य हो सकते हैं और हैं। सामान्यतः तो यही देखने में आया है कि ये विचार कवि की कल्पना-शक्ति को सचमुच गहरे में नहीं उकसा पाते। वे ज़्यादातर उसे भावुक सदिच्छा और अविश्वसनीय वाग्मिता में ही ले जाकर छोड़ देते हैं। 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ अपवाद रूप हैं जहाँ बौद्धिक बेचैनी और रूप-कल्पना का रिश्ता इतना असहज नहीं। वहाँ वे अपने विचारों की टक्कर के मौलिक कवि हैं। उनका चिन्तन बाद में अरविन्द से प्रभावित भी होता है और अपने वैचारिक असंगति को भी स्थापित करता ही है। किन्तु उनकी कविता नई नहीं होती।

बात को दोहराते हुए फिर से कहना होगा कि पंतजी में आत्मालोचन की, साहसिक आत्म-मंथन और आत्म-साक्षात्कार की सामर्थ्य बहुत क्षीण है। मगर प्रकृति-काव्य (क्योंकि प्रकृति मनुष्य-निरपेक्ष, स्थितिशील होती है और इसलिए मानवीय

जटिलताओं के अनुभव के बिना भी उसे आत्मसात किया जाता है) लिखकर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। इस असन्तोष की—जहाँ तक कि वे उसे सचमुच कमा सके थे—सर्जनात्मक संभावनाओं को वे 'ग्राम्या' में किसी सीमा तक चरितार्थ कर सके थे। मनुष्य में, मानवीय व्यापारों में इतनी रुचि लेना भी उनकी स्वभावगत सीमाओं को देखते कम नहीं था। और इस रुचि को वे चित्र-सजीव भी बना सके थे। जिस बौद्धिक दूरी की बात उन्होंने 'ग्राम्या' की भूमिका में की है, वह उनकी सीमा और विवशता ही है। यदि वे सचमुच इस सीमा को लाँघ सकते तो कोई कारण नहीं था कि उनकी कविता का स्रोत सूख जाता। उसे क़ायम रखने के लिए अधिक वयस्क धरातल की अपेक्षा थी। किन्तु वह भावनात्मक वयस्कता पंतजी में नहीं आयी और 'ग्राम्या' की संभावनाएँ वहीं की वहीं चुक गयीं; आगे नहीं बढ़ीं। जिस धरातल पर वे पहले अपनी कविता को प्राप्त किया करते थे, उसका छूट जाना अनिवार्य था। दूसरी ओर केवल चिन्तनशीलता से वयस्क आवेगों की ऊर्जा को प्राप्त करना असम्भव था क्योंकि यह चिन्तनशीलता भी उसी मानसिक धरातल पर रही जिस पर उनकी किशोर भावनाएँ और स्वप्न-आदर्श सक्रिय रहे थे। उम्र के साथ जीवनानुभूति का गुण-धर्म बदलता है और नयी चुनौतियाँ पेश होती हैं जिनसे टकराये बिना कवि की हैसियत से सक्रिय रह सकना संभव नहीं। जीवनानुभूति की यह नयी जटिलता अब हमें पहले की उन सरल प्रणालियों से कविता में नहीं ले जा सकती। कविता अब अपने पुनर्जीवन और पुनः प्राकट्य के लिए अधिक जटिल, अधिक बलिष्ठ संवेदना की माँग करती है। जिस कोटि की अनुभव-परिपक्वता उस उम्र के लिए वांछनीय है, उसी कोटि की प्राणशक्ति भी चाहती है।

पंतजी के विकास में यह नैरन्तर्य नहीं रहा। यह स्वाभाविकता नहीं स्थापित हुई। शब्दों का वह सुरक्षा-व्यूह टूटते-टूटते भी नहीं टूटा। पंतजी में अनुभव के प्रति वह खुलापन नहीं आया जो निराला और प्रसाद में बहुत शुरू से आ गया था। एक बहुत संकीर्ण क्षेत्र के अनुभव के प्रति ही उनकी संवेदनशीलता सीमित रही। यदि वे अपनी सुकुमारता का अतिक्रमण कर सकते : इच्छित चिन्तन के द्वारा नहीं, बल्कि अनुभव के वैविध्य के प्रति अपने को खोलकर, तो यह संवेदनशीलता बिना कुण्ठित हुए आगे भी रचनाशील बनी रह सकती थी। किन्तु वैसा हुआ नहीं। उनकी संवेदना निष्कवच और वध्य नहीं हुई। विचार ने भी उन्हें नहीं खोला, बल्कि रहा-सहा जितना खुलापन था, उसे भी मूँद दिया। कारण, एक तो विचार वास्तविक अनुभवों का स्थान नहीं ले सकते और दूसरे वे काव्य-संभव तभी हो सकते हैं जब वे कवि की निजी संवेदना के क्षेत्र में पुनर्गठित सकें और उसे वाकई विक्षुब्ध कर सकें। मगर विचारों के प्रति यह खुलापन पंतजी अर्जित नहीं कर सके। खुलेपन का भ्रम ज़रूर होता है; मगर वह आत्म-भ्रामक खुलापन है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वह वास्तविक अनुभूतियों से बचे रहने का उपक्रम ही माना जाएगा।

'चिन्तन की प्रासंगिकता' का जैसा जितना भी रचनाभास पंतजी 'ग्राम्या' में पैदा कर सके, उससे वे सन्तुष्ट नहीं हो सके। न उस दिशा में आगे बढ़ने के लिए जिस [illegible] की अपेक्षा थी, उसी के लिए साहस जुटा सके। बाद ही अब वे

कविता के बजाय अपने कवि-व्यक्तित्व की, यश की चिन्ता में मशगूल हो गये। वे युगीन-सामयिक घटना-प्रवाहों और विचार-रूढ़ियों को विचार और अनुभव की सनातन अप्रत्यक्षता में पद्यबद्ध करते रहे। भावना सद्भावना बन गयी और इच्छाएँ सदिच्छा। पहले प्रकृति उन्हें दिवास्वप्न की तल्लीनता देती थी, अब वह ठेका दार्शनिकता ने ले लिया। प्रकृति की जगह अब वह उन्हें दिवास्वप्न दिखाने लगी। बिलकुल उसी आसानी से यथार्थ को स्वप्न सरल कराने लगी। जो दोष—अतिरंजना, शब्द-बहुलता और अतिशिल्प—उनकी आरंभिक कविताओं में उभरकर भी छिपे रहते थे, वे अब अच्छी तरह उजागर हो आये और गुण सारे एक-एक कर बिला गये। वे अब आदत बन गये। अनुभूति में मिलावट और बढ़ गयी और वे बड़े तेज़ी से भद्रता और रूढ़िग्रस्तता की ओर बढ़ते लगे। उनकी 'ग्राम्या' में एक कविता है 'भारतमाता', जिसे गुनगुनाते हुए आज भी मुझे अपनी आवाज़ की थरथराहट को काबू में रखना मुश्किल हो जाता है। तो उस अत्यन्त मार्मिक और खरे सोने की कविता का दूसरा भद्र संस्करण कवि ने निकालना आवश्यक समझा। ज़रा उसे पढ़िए और असल से उसका मिलान कर देखिए। क्या यह भद्रता, रूढ़ि और प्रतिष्ठान के हाथों कविता की पराजय नहीं? हम पाते हैं कि ज्यों-ज्यों कवि प्रतिष्ठित होता गया त्यों-त्यों उसका वेदन-तंत्र भी अपना लचीलापन खोकर स्थूल और जड़ होता गया है। यहाँ पर एक सवाल बड़ी बदतमीज़ी के साथ सिर उठाता है कि क्या यह परिणति अकेले पंतजी की है या देर-अबेर, कमोबेश हर भारतीय कवि की?

टेनीसन भी अन्ततोगत्वा अपना युग बनकर रह गया था। उसने भी अपनी व्यक्तिगत आवाज़ का वैशिष्ट्य अपने समय के आत्मतुष्ट नारों में खो दिया था। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी प्रतिभा के उतार के दिनों में भी टेनीसन की जन्मजात शब्द-संवेदना कुन्द नहीं हो पायी थी। प्रकृति के कवि के रूप में पंतजी कभी भी वर्ड्‌स्वर्थ की सरल शक्ति तक, उसकी मार्मिकता और ऊँचाई तक नहीं उठने, यह सच है। किन्तु उनमें बहुत कुछ उत्कृष्टता के उस धरातल पर मौजूद है, जहाँ टेनीसन की पहुँच थी। इसलिए उनकी तुलना टेनीसन से की जा सकती है। मगर टेनीसन के बारे में कहा जाता है कि मिल्टन के बाद पद्य और शब्द-संगीत के रहस्यों का इतना बड़ा जानकार अंग्रेज़ी में पैदा नहीं हुआ। स्वयं टेनीसन का दावा था कि एक 'सीज़र्स' को छोड़कर वह हर अंग्रेज़ी शब्द की सदनाल परख सकता है। पंत जी ऐसा दावा नहीं करेंगे, और करेंगे भी तो उनके काव्य का कोई भी जानकार उनकी बात पर यक़ीन नहीं लाएगा। पंतजी का अपने माध्यम पर वैसा अधिकार नहीं है। निराला ऐसा दावा करें तो हम एक बार शायद मान भी लें। पंतजी की शाब्दिक संवेदना उतनी सूक्ष्म-नम्य और अनेक स्तरीय नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने एक नयी संवेदनशीलता हिन्दी में पैदा की थी। मगर वह इतनी उर्वर और अन्य कवियों के लिए इतनी प्रेरक सिद्ध क्यों नहीं हुई, जितनी कि निराला की काव्यभाषा निस्सन्देह हुई? निराला की भाषा में संस्कृत शब्दों का प्राधान्य, तद्भव शब्दों के साथ एक रचनात्मक तनाव बनाता है। निराला की प्रतिभा हिन्दी भाषा की वास्तविक

के साथ अधिक घनिष्ठ और समस्वर है। यों पंतजी का शब्द-विवेक भी उच्च कोटि का है। मगर यदि वे निराला जैसा दूरगामी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके तो जहाँ ये सारे कारण (जिनकी चर्चा अभी तक की गयी) इसके लिए जिम्मेदार हैं, वहीं एक अन्य कारण भी है, जिसका उल्लेख बच्चनजी ने 'पल्लविनी' की प्रस्तावना में किया है: पंतजी की मातृभाषा पहाड़ी है और पहाड़ी खड़ी बोली से अवधी, भोजपुरी या ब्रज की अपेक्षा बहुत अधिक दूर पड़ती है। पहाड़ी भाषा उर्दू के प्रभाव से मुक्त रही है और उसका झुकाव संस्कृत की ओर स्वाभाविक रूप से है क्योंकि वह विकृत संस्कृत शब्दों से पटी हुई है। पहाड़ी आदमी का स्वाभाविक झुकाव संस्कृत शब्दावली की ओर होता है और चूँकि पहाड़ी साहित्यिक भाषा नहीं है, अतः हिन्दी में कविता करने वाले पहाड़ी कवि के लिए अपने शब्दों में घुलावट और मिठास पैदा करने की समस्या किसी भी अन्य अंचल के हिन्दी कवि की अपेक्षा अधिक कठिन है, (यह बात मैं बच्चनजी के साक्ष्य पर नहीं, स्वयं अपनी प्रत्यक्ष जानकारी के आधार पर कह रहा हूँ)। इस दृष्टि से भी 'ग्राम्या' की कविताओं ने—काव्यभाषा की दृष्टि से—मुझे चकित-चमत्कृत किया है। उसमें कवि की भाषिक-संवेदना के विकास का अचूक प्रमाण मिलता है। तकलीफ इसीलिए और भी बढ़ जाती है कि इस विकास का आगे चलकर जो फल मिलना चाहिए था, वह क्यों नहीं मिला? जो प्रत्याशाएँ कवि ने इस कदर जगायीं, उन्हें वह पूरा क्यों नहीं कर सका? यदि वे प्रत्याशाएँ न जगायी गयी होतीं तो इस अतिरिक्त झुँझलाहट का औचित्य ही क्या था।

हम टेनीसन के साथ पंतजी की तुलना कर रहे थे। टेनीसन के कान निश्चय ही पंतजी की अपेक्षा बहुत अधिक संवेदनशील हैं। मगर बात इतनी ही नहीं है। दरअसल टेनीसन के प्राण भी उनके कानों के पास ही कहीं बसे हुए थे। टेनीसन में तीव्र आवेगों की कमी नहीं थी; कमी थी संयम और आत्मालोचन की। वही मुश्किल पंतजी की भी है, मगर पंतजी में भावावेगों की तीव्रता भी तो महसूस नहीं होती। दोनों कवि महत्त्वाकांक्षी थे और दोनों ही अपनी महत्त्वाकांक्षा से छले गये। दोनों में अपने युग की विचार-रूढ़ियों के प्रति एक अनालोचकीय मोह दीखता है। दोनों में अपने-अपने युग के साहसिक साक्षात्कार की बजाय उसकी सतही उपलब्धियों के प्रति एक प्रकार की आत्मतुष्ट स्वीकार-भावना दिखायी देती है। दोनों में वास्तविक मानवीय-संकट की अपनी अवचेतन प्रतीतियों पर सतही आस्था और आशावादिता का पर्दा डाले रहने की, उन्हें चेतना में आने न देने की प्रवृत्ति झलकती है। दोनों कवियों की आदत और लत है: जटिलताओं को सरलीकृत करने की; शब्दों की सुरक्षा में यथार्थ से भागकर शरण खोजने की।

किन्तु टेनीसन ने कम-से-कम एक बार—'इन मेमोरियम' में—अपने भीतर के अंधकार को टटोलने की, उसकी थाह पाने की मार्मिक कोशिश की थी। उस नैराश्य का, अन्तर्जगत् की उस भयावह किन्तु दुर्निवार सचाई का साक्षात्कार करने का साहस अर्जित किया था जो उसे कुछ क्षणों के लिए ही सही, सतही और प्रेरणाहीन आस्था के पठार से एकबारगी उबारकर अमर काव्य के शिखर पर बैठा गया। यह सच है कि

टेनीसन वहाँ उस ऊँचाई पर, उस नर्क में ज्यादा देर नहीं टिक सका और घबराकर फिर अपनी सुरक्षा के पठार में लौट आया। किन्तु यही क्या कम है कि वह वहाँ तक पहुँच आया! पंतजी की अध्यात्म-सुरक्षा में कभी कोई दरार नहीं पड़ी। उनकी कविता हर संघर्ष से अनायास उबरती गयी। उनका कवच कभी ढीला नहीं पड़ा। चाहे 'आत्म' हो, चाहे 'अध्यात्म', वह अपनी जगह पर कायम रहा। संघर्ष की एक भी खरोंच नहीं पड़ी। वे निस्संग ही रहे; निर्विकार ही रहे।

२

वर्णगीत का मर्म : महादेवी

जिस अन्तर्जगत् के आत्मविश्वासपूर्ण आविष्कार के साथ छायावाद युग का सूत्रपात हिन्दी में हुआ था उसके क्रमिक विघटन का दृश्य तिहरा है : निराला की प्रचण्ड प्राणशक्ति का विघटन, जो अपने केन्द्र से टूटते-टूटते भी भाषा की सतह से चिपटी रहकर सर्जनात्मकता की एक आखिरी छटपटाहट को भी मरते दम तक निभाती है; दूसरे, पंत के ऐन्द्रिक संवेदन की मौलिकता का विघटन···एक अभ्यस्त काव्यशिल्प के सहारे चिन्तनशीलता के पठार में अपना वैशिष्ट्य खोती हुई कविता; और तीसरे, छायावाद की सभी अभिव्यक्तिगत विशेषताओं का महादेवी के काव्य में क्रमशः विशेषीकृत और रूढ़ होते जाना···। जो कभी आविष्कार था, सनसनी था, वह यहाँ आकर साहित्यिक कच्चे माल की तरह खपने लगता है—एक ऐसी कविता में, जिसका स्रोत जीवन के सीधे संवेदन में कम और साहित्यिक स्मृतियों में, साहित्यिक वातावरण में ज्यादा है। दूसरे शब्दों में, महादेवी की कविता प्रसाद, निराला और पूर्व-पन्त की कविता की तुलना में 'साहित्यिक' कविता है।

यह बात उनके गद्य के बारे में नहीं कही जा सकती। महादेवी का गद्य उनके पद्य की अपेक्षा अधिक खुला हुआ और ताज़ा है। एक ऐसे पाठक के लिए जो उनकी कविता से पूर्वपरिचित नही, उनके गद्य मे ही सीधे डुबकी लगाना अधिक प्रीतिकर अनुभव होगा। उस गद्य की खास लयमयता का स्वाद ले चुकने के बाद वह उनके पद्य को बिना ऊबे पढ़ सकेगा और उस 'वर्णगीत' की विशेषता को किसी क़दर सराह सकने की स्थिति में होगा जो उनका वास्तविक योगदान है। यों गीत तो दूसरे छायावादी कवियों ने भी लिखे हैं, पर गीत को गीत की तरह विशेषीकृत करने का काम महादेवी

ने ही किया है। इस विशेषीकरण की प्रक्रिया में उसका कविता की दूसरी शर्तों से स्वतन्त्र और विच्छिन्न होते चले जाना भी उनके यहाँ मानो स्वाभाविक हो गया है। निराला के उत्कृष्ट गीत उनकी दूसरी कविताओं से कम वज़नदार नहीं; बल्कि, कहना चाहिए कि उनके यहाँ कवित्व और गीति की सहस्थिति एक बुनियादी चीज है। उनके परवर्ती गीतों तक में—जहाँ उनके व्यक्तित्व का विकेन्द्रीकरण होने लगा है—यह विच्छिन्नता उस तरह अनुभव नहीं होती क्योंकि उनमें एक प्रयोगशीलता का उत्साह बराबर महसूस होता है···उसमें आस्थि नहीं, उत्तेजना है भाषा की, भाषिक रचनात्मकता की। इसी तरह प्रसाद वाले अपने निबन्ध में हम देख ही आए हैं कि प्रसाद की गीतियाँ उनके समूचे वेदन-तन्त्र के साथ किस क़दर घनिष्ठ हैं। आज 'गीत' शब्द की जो व्यंजना है, जो लीक पकड़ ली है, उसके अर्थ में, उसे देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि गीतकार इस अर्थ में न तो जयशंकर प्रसाद थे, न निराला ही। जबकि दूसरी तरफ़, महादेवी को गीतकार कहने में कोई अनौचित्य उस तरह नहीं झलकता। उन्हें वर्णों की, वर्णों की गीतात्मक संभावनाओं की बहुत अच्छी पहचान है। अगर गोधूलि की कविता में 'गोधूली' करने की छूट प्रसाद ने ली, 'सुकुमार' की विशेषणात्मक व्यंजना का जमकर उपयोग पन्त ने किया तो महादेवी दोनों से आगे बढ़कर उसका इस्तेमाल अपने 'गीत' के लिए करेंगी। 'निःश्वास', 'नीड़' और 'शयनागार' जैसे शब्द तो सभी छायावादी कवियों के यहाँ कमोबेश साफ़ या धुँधले अर्थ-सन्दर्भों में कार्यरत दिखलाई देंगे। मगर 'गीत' के तर्क से उन्हें पास खींच लाने का आग्रह महादेवी के यहाँ ही मिलेगा। इस तर्क की स्वाभाविक परिणति यह हुई कि गीत और कविता के बीच अन्तर बढ़ता रहा और एक निराली विधा का विकास हो गया जिसने कवि-सम्मेलन और काव्यगोष्ठी के हिन्दी अद्वैत को शुद्ध द्वैत में बदल दिया। छायावाद-युग में ही हम हिन्दी-पद्य को कविता की कई ऊँचाइयाँ चढ़ते देखते हैं। और छायावाद-युग में ही तथा उसके तुरन्त बाद हम उस कविता को गीत में ढलते हुए भी, अर्थात् हिन्दी-पद्य को फिर से उतार की ओर उन्मुख होते देखते हैं। कविता का यह सरलीकरण, मुझे लगता है, द्विवेदी-युग की अपेक्षा कहीं अधिक शोचनीय है। द्विवेदी-युग का सरलीकरण अनिष्ट नहीं था। किसी हद तक वह हिन्दी कविता की ज़रूरत था। जबकि बच्चन-युग का सरलीकरण (और बच्चन पंत की अपेक्षा महादेवी के ज़्यादा निकट और ज़्यादा पूरे उत्तराधिकारी हैं) हिन्दी कविता के स्वाभाविक विकास के लिए न तो ज़रूरी प्रतीत होता है, न सहज। निराला और प्रसाद की कविता में कार्यरत भावना—जैसा कि पिछले विश्लेषणों से स्पष्ट हुआ होगा—एक ज़्यादा एकीकृत और सघन चीज़ है, बनिस्बत बच्चन और दिनकर की कविता में कार्यरत भावना के। बच्चन और दिनकर तक आते-आते वह संवेदना काफ़ी बिखर गई है, काफ़ी पतली पड़ गई है। उसमें पानी मिलने लगा है। दूसरे शब्दों में इस भावना को 'भावुकता' से अलगाना बहुत कठिन होता जाता है। निराला के 'ओज' और दिनकर के 'ओज' में जो अन्तर है, वह सिर्फ़ मात्रात्मक न होकर गुणात्मक भी है। निराला का भाव-बोध स्वतः आवेगात्मक है, उनकी भाषिक

संवेदना उस भाव-स्रोत के साथ इतनी घनिष्ठ है कि उसके शब्द उस आवेग के विकिरण का लगभग पारदर्शी माध्यम बन सकते हैं और यह विकिरण ही उनका ओज है। दिनकर की कविता में 'ओज' की स्थिति अधिक विश्लेष्य है क्योंकि शब्द और संवेदना का वैसा एकात्म्य नहीं है। संवेदना में वह ताप, वह दबाव और एकाग्रता नहीं है जो शब्द को पिघलाकर पारदर्शी बना सके। इसलिए दिनकर का ओज निराला के ओज की तुलना में अधिक स्थूल प्रतीत होता है। या इसी बात को दूसरे ढंग से कहें तो दिनकर का ओज 'रेहॅटॉरिकल' है, एक ऐसे अर्थ में, कि जिस अर्थ में निराला का ओज कतई रेहॅटॉरिकल नहीं है। इसी तरह 'प्रसाद' के प्रसाद गुण तथा बच्चन के प्रसाद गुण में भी उतना ही महत्वपूर्ण अन्तर है। एक सघन है, दूसरा तरल। एक में सान्द्रता और एकाग्रता (कन्सेन्ट्रेशन) है, दूसरे में रूमानी सरलीकरण (डिजिलेशन)। प्रसाद की प्रासादिकता (फॅसिलिटी) जटिल अनुभूति में से कमाया गया 'साधारणीकरण' है; बच्चन की सरलता औसत अनुभव का कुशल पद्यान्तरण। प्रसाद के पीछे सिर्फ प्रसाद हैं या पूरी काव्य-परम्परा है। बच्चन के पीछे केवल महादेवी हैं। दूसरे शब्दों में बच्चन का गीतलाघव महादेवी के गीतलाघव का अनिवार्य परिणाम और विस्तार है।

इस दृष्टि से विचार करने पर उत्तर-छायावादी कवियों की रचना-प्रक्रिया भाषा की काव्यमुक्ति की उस प्रक्रिया से ठीक विपरीत दिशा में अग्रसर होती जान पड़ेगी जिसका आश्वासन हमें जयशंकर प्रसाद और निराला के कृतित्व ने दिया था। यहाँ हम देखेंगे कि भाषा की काव्यमुक्ति की प्रक्रिया में इस गतिरोध के लक्षण सबसे पहले कहाँ और कैसे प्रकट हुए।

महादेवी का गद्य अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् का रोचक संवाद प्रस्तुत करता है। अलंकृत शैली के घटाटोप को चीरती उनकी 'विट' जगह-जगह कौंधती रहती है। यह 'विट' उनकी संवेदना को तीखा बनाए रहती है, उनकी भावुकता को उनकी समझ से अलग ज्यादा देर नहीं टिकने देती। कुछ है इस गद्य में, जो इसे प्रसाद या निराला के गद्य से अलग एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है, वह क्या है? निश्चय ही इस गद्य की लय महादेवी के गीतों की लय से जुड़ी हुई है। वह गीतगन्धी लय ही है। किन्तु इसमें जो 'व्यक्तित्व' और जो व्यंग्यदृष्टि और जो जीवन की धकापेल है, वह उनकी कविता में कहाँ है? इस व्यक्तित्व से आप चाहे आकर्षित हों, चाहे विकर्षित, वह अलग बात है; पर उसमें आपको अपनी बातों में उलझाए रखने की सामर्थ्य है। इस व्यक्तित्व में तरलता-ही-तरलता नहीं है, एक पुख्तापन भी है जो अपनी निस्संग निरीक्षणशीलता और तथ्यपरक संवेदना से अज्ञेय का स्मरण दिलाता है। उनके चरित्र उनके मन की भाव-तरल परछाइयाँ ही नहीं हैं; वे वायवीय न होकर ठोस मानव-आकृतियाँ हैं, जिन्हें उनका गद्य उनकी सजीव चारित्रिक हरकतों में, उनके पूरे परिवेशगत यथार्थ में झलकाता है। यहाँ उनकी करुणा ठोस आलम्बनों से परिभाषित है : वस्तु-स्थितियों का पैनापन कुण्ठित नहीं होने दिया जाता। भावुकता का तकाज़ा वास्तविकता के तकाज़े को धूमिल नहीं पड़ने देता। बल्कि अभि-

व्यक्ति की परोक्षता उस 'यथार्थ' को और ज्यादा नुकीला, और ज्यादा प्रत्यक्ष-सजीव बना देती है चाहे वह 'भक्तिन' का इतिहास हो, चाहे 'जंगबहादुर' का। महादेवी की भावना और महादेवी की बौद्धिकता यहाँ गद्य के माध्यम में ज्यादा एकाग्र होकर काम करते जान पड़ते हैं और आत्माभिव्यक्ति ज्यादा अनायास और ज्यादा पूर्ण है। महादेवी जब गद्य लिखने बैठती हैं तो उनके आँख-कान दोनों खुले रहते हैं और हृदय के साथ मस्तिष्क भी बराबर धड़कता रहता है। इसके विपरीत जब महादेवी कविता करने बैठती हैं तो उनकी आँखें मुँद जाती हैं और वे केवल अपने कानों से काम लेती हैं। ऐसा लगता है कि महादेवी को गद्य लिखने में जितना आनन्द आता होगा, उनके पाठक को उसे पढ़ते हुए उनसे ज्यादा ही आनन्द आता है पर कविता करने में यदि उन्हें गद्य-लेखन की अपेक्षा अधिक उत्तेजना महसूस होती भी रही हो, तो यह एक दुखद तथ्य है कि उनके पाठक को ऐसा अनुभव नहीं होता। महादेवी की कविता का स्वाद आज हमारे लिए बासी पड़ गया है जबकि उनका गद्य अभी भी अपनी ताजगी नहीं खो सका।

महादेवी के गद्य से महादेवी की कविता में प्रवेश करने का अनुभव ऐसा होता है जैसे हम एक अजनबी और फिर भी सुपरिचित नगर के गली-कूचों में स्वच्छन्द घूमते-घूमते सहसा किसी के व्यक्तिगत पुस्तकालय में घुस गए हों और बाहर से किसी ने साँकल चढ़ा दी हो। किताबों की गन्ध से बोझिल इस कमरे में केवल एक खिड़की खुली हुई है और उस खिड़की पर एक ही दृश्य—कभी न बदलने वाला स्थितिशील दृश्य जड़ा हुआ है। एक शाश्वत मानवीय अनुपस्थिति से बसा हुआ यह कमरा कोई भुतहा तहखाना भी नहीं है जहाँ हम कम-से-कम प्रेतों से ही साक्षात्कार कर सकें। यह एक बहुत ही साफ़-सुथरा, करीने से सजाया हुआ कमरा है, पर इसमें कोई नहीं रहता। 'भक्तिन' भी यहाँ झाड़ू नहीं लगाने नहीं आती।

क्या महादेवी का वह व्यक्तित्व, जिसके बिना उनका गद्य एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता, यहाँ उनकी कविता से—बहिष्कृत है? यह कैसा अन्तर्जगत् है, जिसमें से अनुभव की वह सारी दुनिया ही नहीं, स्वयं महादेवी की 'विट' और आवाज भी ग़ायब है?

प्रसाद और निराला का भी एक अन्तर्जगत् है पर वह अन्तर्जगत् उनके 'अनुभव' से स्वतंत्र नहीं है। पंत का भी एक छोटा-सा अन्तर्जगत् है जो काफी दूर तक उनकी आँख के साथ सहयोग करता आया था। पर महादेवी का अन्तर्जगत् और महादेवी का 'अनुभव' जैसे बराबर एक सुरक्षित दूरी अपने बीच बनाए रहते हैं: दोनों में आमना-सामना शायद ही कभी होता हो :

> इन ललचाई पलकों पर, पहरा जब था व्रीड़ा का
> साम्राज्य मुझे दे डाला [illegible]

×

न सही अनुभव; कुछ 'विट'

चिन्ता क्या है हे निर्मम, बुझ जाए दीपक मेरा
हो जाएगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा

मगर अधिकतर तो महादेवी की कविता के पाठक को इतना भी नसीब नहीं होता। इस एकरसता की घुटन से झुँझलाकर पूछने की तबीयत होती है कि क्या महादेवी 'कविता' से अपने अन्तर्जगत् का निर्माण करती हैं? कविता का इस्तेमाल करते हुए उससे अपने अन्तर्जगत् को सजाती हैं? इतनी व्यवस्थित कविता तो हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास में कहीं न मिलेगी। महादेवी की कविता में अक्सर प्रयुक्त होने वाला कोई भी शब्द ले लीजिए: उसका इतिहास पन्त, निराला, प्रसाद द्वारा प्रयुक्त किए गए उसी शब्द का इतिहास होगा। ऐसा बहुत कम होगा कि महादेवी के यहाँ उसकी कोई विलक्षण हैसियत बन सकी हो। महादेवी की कविता के शब्द उनके 'छायावादी' अर्थों की सीमाओं का अतिक्रमण भूलकर भी नहीं करते। न उनके मेल ही इतने मौलिक होते हैं कि अपनी साहसिकता या नयेपन से हमें चौंका सकें। अनगढ़ता तो उनमें कभी होती ही नहीं:

निश्वासों का नीड़ निशा का
बन जाता जब शयनागार
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार
आँसू से लिख-लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार'

यह सफ़ाई और यह सुघरता निराला-प्रसाद का तो ज़िक्र ही क्या—पंतजी के यहाँ तक मुश्किल से मिलेगी। मगर ये पंक्तियाँ तभी तक अच्छी लगती हैं जब तक इनकी अर्थसंगति को ज़रा बारीकी से आँख गड़ाकर देखने की कोशिश नहीं करते। ये शब्द नहीं, छायावादी शब्द हैं यानी छायावादी कवियों द्वारा पहले से इस्तेमाल किए हुए शब्दों की परछाइयाँ हैं। महादेवी की कविता इन धूमिल परछाइयों से कभी मुक्त नहीं हो पाती। प्रथम दो पंक्तियाँ हममें पंतजी के 'पल्लव' के 'शून्य निश्वासों के आकाश' का स्मरण जगा देती हैं। यहाँ अभिराम मुक्तावलियाँ हैं तो आगे एक दूसरी कविता में 'मुक्ताहल अभिराम' ज़रूर मिलेगा। प्रसाद के 'नील नयन से ढुलकाती हो ताराओं की पाँत घनी रे' को याद करिए और यहाँ 'तारों के नीरव नयनों के हाहाकार' को देखिए। वहाँ अनुभूति थी मौलिक—इसी से अभिव्यक्ति में भी आविष्कार की ताज़गी थी। यहाँ उस आविष्कार का उपयोग ज़रूर है; पर यह कला [illegible] जिससे कला ही उखड़ जाय। प्रसाद में "हाहाकार स्वरों में वेदना [illegible] और पन्त में 'ज्योत्स्ना [illegible] [illegible] से छनकर यहाँ तहाँ कुछ [illegible] महादेवी में तारों के नीरव नयनों का हाहाकार आँसू से लिखता [illegible] था, यहाँ वह [illegible] है। [illegible] का तर्क है यह। [illegible] की कविता में शब्दों की सत्ता अपूर्ण होती जाती है। उन्हें काफी [illegible] को भी [illegible] कहना पड़ता है। 'मर्मर का रोदन' कहना पड़ता है:

देकर सौरभ-दान पवन को
कहते जब मुरझाए फूल
जिसके पथ में बिछे वही
क्यों भरता इन आँखों में धूल
अब इनमें क्या सार मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार'

इस बन्द के साथ 'पल्लव' के पंत की कुछ पंक्तियाँ रखकर पढ़िए :

अलि-बाला से सुन तब सहसा
जग है केवल स्वप्न प्रसार
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार

क्या महादेवी का गीत जाने-अनजाने पंत की लीक पर नहीं चल रहा प्रतीत
ता ? 'मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार' पढ़कर हमारे कान को और दिमाग़ को
वेदना का वैसा ही धक्का नहीं लगता जैसे 'हाहाकार को आँसू से लिखते' देखकर
ा था ?

प्रसाद और निराला ने भी गीत लिखे। पर वे कविता पहले थे, गीत बाद में।
देवी का गीत गीत ही होकर रह जाता है। अक्सर। कविता की शर्तों को छोड़कर
ा हुआ गीत। छायावाद यहाँ रूढ़ होने लगा है; उसका प्रवाह अवरुद्ध हो चला
प्रसाद और निराला के यहाँ हिन्दी गीत अभी उस खतरनाक विशेषीकरण की
था तक नहीं पहुँचा है जिसमें छन्द और तुक के तकाज़े से भाव और भाषा के
खींचतान करनी पड़े। महादेवी तक आते-आते छायावाद का समीर चुक चला
अब सिर्फ़ विशेषीकरण रह गया है : कुछ अभिव्यक्तियों का, कुछ रूढ़ भाव-संवेदनाओं
रचनाओं का। यह विशेषीकरण महादेवी के हाथों हुआ। महादेवी की कविता
वाद की सारी शब्दावली का संदर्भ-ग्रन्थ है : मधुप, मलयज, दीपक, कलियाँ
, लहरें, मकरंद, हाहाकार, सुमार सुकुमार, रश्मि हिलोर, विजन, मधु, उच्छ्वास,
तुषार, विषाद, सागर, हाला, प्याला, उस पार, असीम, नाविक, उस पार,
र···सभी यहाँ उसी एकरस अनिवार्यता से इकट्ठे होते रहते हैं। शायद
ई कविता किसी विशिष्ट भावप्रसंग से निर्धारित हो। वही-वही भाव···
न उन्हीं-उन्हीं शब्दों-उपकरणों के साथ थोड़े हेरफेर के साथ दुहराए जाते हैं।
ी का वैभव रूढ़ अभिव्यक्तियों का वैभव है। ऊपर एक कविता का उदाहरण
र ही चुके हैं। एक दूसरी—अपेक्षाकृत बेहतर कविता—मुझे याद आ रही है
र सभी देहर बन्दी लगती थी·····रजनी ओढ़े जाती थी/झिलमिल तारों की
उसके लिये वैभव पर अब रोती थी उजियाली·····'। इसके आगे का बन्द

···नि को छूते सबकी सी
लहरों का करुण कंपन

बेसुध तम की छाया का
तटनी करती प्रालिंगन
अपनी जय करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल
प्राँसू से भर-भर जाता
सूखा प्रवनी का अंचल

महादेवी के साथ यह कैसी विडम्बना है कि कविता की शुरुआत जरा अलग ढंग की होती भी है तो तुरन्त ही कविता फिर उसी पिष्टपेषित लीक पर आ फिसलती है। इन पंक्तियों पर आते ही हमारे मन में प्रसाद की पंक्तियाँ प्रतिध्वनित होने लगती हैं :

देखा बौने जलनिधि को
शशि को छूने ललचाना
फिर हाहाकार मचाना
फिर उठ-उठकर गिर जाना

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि 'आँसू' का छन्द और आँसू की भाव-रूढ़ियाँ याद के कवियों का काम काफ़ी आसान कर गई। परवर्ती कविता में 'आँसू' की वंश-बेलि काफ़ी दूर तक फैली दिखाई देती है।

अब दूसरे छन्द पर आइए और उस कविता को याद कीजिए जो हमने आरम्भ में उद्धृत की थी। 'तब बुझते तारों के नीरव नयनों का हाहाकार/आँसू से लिख-लिख जाता है कितना अस्थिर है संसार।' आप देखेंगे कि इस में कोई फ़र्क नहीं है। यहाँ भी 'आँसू' उतने ही सुविधाजनक ढंग से जुड़ा हुआ है। फ़र्क इतना ही है कि तारों की जगह 'मलयानिल' को भरती कर लिया गया है जो कि उतना ही सार्थक या निरर्थक है। आपने यह भी गौर किया होगा कि 'हाहाकार' का अर्थ-संदर्भ कहाँ है। और आगे बढ़िए :

पल्लव के डाल हिंडोले, सौरभ सोता कलियों में
छिप-छिप किरणें आतीं जब, मधु से सींची गलियों में

क्या आपका दिमाग खटाक् से निराला की पंक्ति नहीं बुला भेजता ?...'आँखें अलियों सी किस मधु की गलियों में फँसी ?' रहे 'पल्लव के हिंडोले,' सो पंतजी के 'पल्लव' में ही आपकी मुलाकात 'कुसुमित पलनों में अभिराम' से हो गई होगी।

आँसू वाले लेख में हमने संकेत किया था कि इस छन्द में वह सुलापन नहीं है। इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मुक्तकता की ओर है। महादेवी ने इस छन्द का खूब उपयोग किया है। निराला ने नहीं किया। वे जानते थे इसकी सीमाओं को। यह भी कि यह प्रसादगन्धी है। इस पर प्रसादजी की मुहर लग गई है।

महादेवी अक्सर ही 'भाव' को उसके जीवित सन्दर्भ से काटकर उसे उसके उप-युक्त साहित्यिक उपकरणों में ढाल लेती हैं। अपनी अतिसाहित्यिकता के कारण वह सघन कविता जैसा प्रतीत होने लगता है। पर थोड़ा भी गौर से देखने पर उसका

ोनापन स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि इन सुव्यवस्थित शब्दों का जीवन कवि के अन्त-
वन में जितना है, उससे ज्यादा छायावादी कविता में है। उनकी खूबी यह है कि
ड़ी सफाई और सुघरता के साथ वे अपने 'भावों' को प्रस्तुत कर सकती हैं। पर ये
व निर्व्यक्तिक भाव हैं। निर्व्यक्तिक—यानी रूढ़ या काव्यरूढ़ भाव। पर हमें नहीं
लना चाहिए कि इसी कारण वे शिल्प की बारीकियों पर ज्यादा एकाग्र हो सकी हैं।
हे जितना विशेषीकृत और साहित्यिक उनका भाव-बोध हो, उनके गीत हमें अपनी
ावट और बुनावट के प्रति आकर्षित करते हैं। हम उनका अध्ययन करने को विवश
ते हैं और यह अध्ययन निश्चय ही काफ़ी रोचक और लाभप्रद सिद्ध होता है।

यह सब लिखने का उद्देश्य महादेवी के महत्त्व को कम करना नहीं है बल्कि
उसकी सही जगह पर रखकर देखना है कि आखिर वह 'महत्त्व' ठीक-ठीक यथा-
न क्या है?

महादेवी की कविता का महत्त्व यह है कि उनमें कविताई की कला पंत से
ज्यादा सेल्फ-कॉन्शस स्तरों पर देखी जा सकती है। उनकी विशेषता यह नहीं है कि
ाद या निराला की तरह एक विशिष्ट अन्तर्जीवन उनकी कविताओं को परिमापित
ता हो। वैसा कोई निजी विलक्षण विन्यास व्यक्तित्व का—उनकी कविताओं से
उभरता। न उनमें पूर्व-पंत की तरह की ही कोई विशेष सौन्दर्यासक्ति ही है। न
वह पारदर्शी भावुकता और विशिष्ट भाव-प्रसंगों से प्रेरित मार्मिकता ही है जो
सुभद्राकुमारी चौहान में मिलती है। सुभद्राजी की तुलना में महादेवी का
बहुत 'सोफ़िस्टिकेटेड' है। सुभद्राजी महादेवी की तरह नहीं लिख सकती।
देवी सुभद्राजी की तरह भी लिख सकती हैं ('अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी
ानी')। सुभद्राजी में पूरी भावुकता है: अधूरी भावुकता और अधूरी बौद्धिकता
ख्वरी नहीं है। उन्होंने बहुत थोड़ी-सी कविताएँ लिखी हैं पर उनमें भरपूर
य है। एकरसता कतई नहीं है। ये लम्बी कविता को भी बिना कहीं शिथिल
निभा सकती हैं। 'झाँसी की रानी' आल्हा के छन्द में लिखा हिन्दी का सर्वोत्तम
ल्पिक 'बैलेड' है। सुभद्राकुमारी चौहान की कविता मन को सीधे छूती-पकड़ती
महादेवी के साथ ऐसा नहीं होता। जितनी अ-प्रत्यक्ष उनकी प्रेरणाएँ होती हैं
ही परोक्ष और धुँधला उनका असर भी पड़ता है। फिर भी यदि हम महादेवी
भद्राकुमारी चौहान से बड़ा कवि मानते हैं तो उसका कारण यही हो सकता है
ा संकेत हमारे विश्लेषण से उभर रहा है कि महादेवी में वह 'कविता-चतुराई'
सुभद्राजी में नहीं है। और यह कविता-चतुराई निश्चय ही कवियों के काम की
हादेवी का असर परवर्ती कविता पर पड़ा और खूब पड़ा। बल्कि जैसाकि
र जगह मैंने संकेत किया, बच्चन, दिनकर आदि पर यदि छायावाद के किसी
सीधा असर है तो वह महादेवी का है। प्रसाद और निराला से सीखना
ठिन है। पंत को खुद पंत ने ही आखिरी बूँद तक निचोड़ डाला है। जबकि
ने तीनों से सीखा और जैसाकि हम देख आए और आगे भी देखेंगे, खूब
छायावाद नाम का भी अगर कोई गुरु है तो वह पंत और महादेवी की

कविता के ही लिए है। महादेवी ने गद्यकारों के लिए कविता लिखना प्रशस्त कर दिया। उन्होंने नासमझ पाठिकाओं को भी साहित्यिक रूप में देख लिया और कल्पना-प्रणालियों को इस हद तक मांजा कि वे कवि बन गईं। महादेवी की कविता में अगर कोई चीज है जो आज हमें उनकी कविता पढ़ने को बाध्य करे तो वह यह 'अभिव्यक्तिशीलता' ही है—कई प्रभावों को पचाने और अपनाने की उनकी सामर्थ्य। महादेवी की शिल्पगत भूमि सबसे ज्यादा गाढ़ पर है, इसलिए उनमें गीत सत्ता भी सबसे व्यापक है। अगर यह सच है कि महादेवी ने कविता को गीत तक उतार दिया तो यह भी सच है कि उन्होंने गीत को कई तरह से मांजा। एक ही नपी-तुली, पूर्वानुमेय सामग्री को उन्होंने कई तरह से तराशा, कई तरह से अभिव्यक्ति दी। महादेवी की कविता एक ज्वलन्त उदाहरण है कि बिना जन्मजात कवि हुए भी कवि किस तरह हुआ जाता है।

छायावादी कविता के कारखाने में जो भी नए आविष्कार किए, प्रसाद, निराला और पंत ने किए। पर महादेवी ने यह दिखला दिया कि आविष्कार के—कविता में आविष्कार के—माने क्या होते हैं और उनका उपयोग सफलतापूर्वक कैसे किया जा सकता है। यह अकारण नहीं, कि उन्होंने इतने कवियों को प्रेरणा दी सक्रिय कविताई के स्तर पर। कई नए कवियों में भी उनकी कविताई के प्रति सराहना और आदर का भाव मिलता है :

छू नहीं सकती
सांस जिसे
वर्णगीत जिसे
किन्तु मर्म
... ...
कुछ नहीं लाया
प्रेम
मधु मधु मधु
पुनः
पुनः

(शमशेर : 'अमा' कवि से)

शमशेर ने महादेवी पर ही नहीं, सुभद्राकुमारी चौहान पर भी कविता लिखी है। देखिए :

डूब जाती है कहीं
जीवन में, वह
सरल शक्ति
... ...
... ...

एक सीधी-सी बात जो इन दोनों कविताओं को एक के बाद एक पढ़ने पर मन

मे उठती है, वह यह है कि क्यों सुभद्राकुमारी चौहान पर लिखी कविता इतनी स्पष्ट और प्रखर है और क्यों 'यामा' कवि के प्रति उसी कवि की प्रतिक्रिया इतनी अमूर्त-अस्पष्ट ? पर यह अकारण नही है। शमशेर ने अपने मन पर पड़े दोनों कवियों के प्रभाव को ही यथावत् आंका है। क्यों हम महसूस करते हैं कि सुभद्राकुमारी चौहान के व्यक्तित्व का ही नहीं, कृतित्व का भी इससे अच्छा मूल्यांकन नही हो सकता ? "डूब जाती है कही/जीवन में वह/सरल शक्ति······"······; "जनमनमयी करुणा के सरल मधुमास"···कितनी सटीक व्यंजना है और कितनी सच्ची ? मगर महादेवी के प्रति कवि की यह प्रतिक्रिया कैसी है ? ···यह कैसा मूल्यांकन है ? आगे की पक्तियाँ इससे भी सूक्ष्म-विरल हैं। "नीद का संगीत बाकर विमुध लय"······"जुगनुओं के सूर्य अलक्षित सूक्ष्म/तुहिन-कण की स्तब्ध रजनी में"···पूरी कविता मे वही प्रारम्भ की पंक्तियाँ दिमाग़ में घुमड़ती रह जाती हैं। "छू नहीं सकती सांस जिसे/वर्णगीत जिसे/किन्तु मर्म"···मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं शमशेर की कविता की मनमानी व्याख्या करूँ। मगर मेरे मन में महादेवी की कविता पढ़कर जो प्रतिक्रिया होती है, कही उसी को तो मैं इन पंक्तियो मे नही प[...] रहा ? तीन व्याख्याएँ हो सकती हैं—

(१) जिसे सांस नहीं छू सकती, ऐसा वर्णगीत। किन्तु मर्म ?···वर्णगीत ह[...] वह मर्म है।

(२) जिसे सांस नही छू सकती और वर्णगीत भी नहीं छू सकता—ऐस[...] मर्म।

(३) जिसे सांस नही छू सकती, किन्तु वर्णगीत छू सकता है—ऐसा व[...] मर्म।

शायद शमशेर का अभिप्रेत यह तीसरा हो। या दूसरा। मेरी प्रतिक्रिया पह[...] व्याख्या के निकट पड़ती है। वर्ण के दोनों अर्थ ले लीजिए : स्वर-व्यंजन या रंग। पहले अर्थ पर ही ध्यान केन्द्रित करूँगा। महादेवी की कविता का तत्व और केन्द्र-[...] मुझे लगता है—यह वर्णगीत ही है। उनकी कविताएँ वर्णाश्रित हैं अर्थात् काव्य-शि[...] की बारीकियों पर एकाग्र हैं। यदि शमशेरजी का आशय यह है कि यही सूक्ष्म[...] कला है तो उनसे सहमत नहीं हुआ जा सकता। क्योंकि वैसी कलात्मक तन्मयता-[...] भूशान्त तद्मनि महादेवी मे कही भी नही है (और जैसी शमशेर के यहां मिल सक[...] है)। हां, इतना कहा जा सकता है कि एक उभयनिष्ठ क्षेत्र जरूर है—वर्ण-गीत-[...] उन्माद और रीफ-बूझ का—दोनों के बीच, जहाँ शमशेर महादेवी को सराह स[...] हैं और शमशेर ही क्यों, हम सभी। उदाहरण के लिए, महादेवी के यहां—

नहीं मुख पर आती है आह
मौन में सोता है संगीत

और शमशेर के यहां—

मौन आहों में बुझी तलवार

इसी तरह महादेवी के यहां—

मझोले मेरे [illegible]

तो अज्ञेय के यहाँ—अधिक परिष्कार के क्रम में—

दीप पत्थर का
लजीली किरन की पदचाप नीरव

महादेवी के यहाँ—

तेरे हित जलते दीप-प्राण

बच्चन के यहाँ—

मेरे हित होगा कौन विकल

हमने कहा कि महादेवी का काव्य-जगत् नितान्त उनका व्यक्ति-विलक्षण भाव-जगत् उतना नहीं है जितना कि छायावादी काव्यान्दोलन द्वारा निर्मित साहित्यिक भाव-जगत्। इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण हम पहले ही टाँक चुके हैं। कुछ और, लीजिए, प्रस्तुत हैं। जयशंकर प्रसाद में हमने पढ़ा—

मादकता से तुम आए
संज्ञा से चले गए थे

महादेवी में पढ़िए—

विस्मृति सी तुम, मादकता सी
गाती हो मदिरा का राग

प्रसाद में—

"आती है शून्य क्षितिज से/क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी/टकराती बिलखाती सी पगली सी देती फेरी..."

महादेवी की कविता में इस 'इमेज' का सुन्दर उपयोग देखिए—

बह गई क्षितिज की रेखा, मिलती है कहीं न हेरे
भूला सा मत्त समीरण, पागल सा देता फेरे

इसी तरह जब हम महादेवी की एक कविता में पढ़ते हैं : "शून्य से टकराकर सुकुमार/करेगी पीड़ा हाहाकार/बिखर कर कन-कन में हो व्याप्त/मेघ बन छा लेगी संसार" तो हमें अनायास ही लग उठता है कि यह 'शून्य' और यह 'हाहाकार' महादेवी से ज्यादा प्रसाद के 'आँसू' से ताल्लुक रखता है। पंतजी लिखते हैं, 'मेरे आँसू गूँथ फैल गंभीर मेघ सा आच्छादित कर ले सारा आकाश' तब हम उनकी सुरुचि से आश्वस्त हो जाते हैं। पर महादेवी की पीड़ा मेघ बनकर आकाश को नहीं, 'संसार' को छाने लगती है। प्रसाद के 'आँसू' में भी बेशक फ़िज़ूलखर्ची है पर उनकी पीड़ा को टकराने के लिए 'शून्य क्षितिज' तो कम-से-कम चाहिए। पर महादेवी की पीड़ा उनसे भी ज्यादा अमूर्त है क्योंकि वह 'शून्य' से ही जा टकराती है। जब पंतजी कहते हैं—'बादलों के छायामय मेल, घुमड़ते हैं आँखों में फैल,' तब हम एक मौलिक भावुक संवेदन को सराहे बिना नहीं रह सकते। पर जब हम महादेवी की 'मधुर वेदनाओं से भरे/मिथों के छायामय वाष्प' [illegible] देखते हैं तब हम उनकी सुरुचि से आश्वस्त नहीं हो पाते। उनकी पंक्ति में मेघ की छायामयता का वैसा सौन्दर्य पूर्ण नहीं होता।

दरअसल महादेवी की स्वाभाविक रुझान और क्षमता पंक्ति-सौन्दर्य को तराशने की है। उसी-उसी बात की अनेक भंगियाँ—आवृत्तियाँ उनमें मिलेंगी। और इनमें शिल्प के निखरने की सूचना भी। उनकी कला एक अच्छे अर्थ में 'सूक्ति' की कला है। 'बुझते ही प्यास हमारी/पल में विरक्ति जाती बन।' इतनी सफाई और कटे-छँटे-पन की उम्मीद हम प्रसाद और निराला सरीखे आविष्कारक कोटि के कवियों से भी नहीं कर सकते। यह गद्य का गुण है और इसमें सन्देह नहीं कि अच्छे गद्य के कुछ गुण महादेवी की कविता में हैं। महादेवी का लय का पैमाना भी काफी छोटा होता है। लम्बी साँस साधने वाली, बड़ी लय को सम्हालने वाली आवेगात्मकता उनमें नहीं है। लय का छोटा यूनिट और तुकों का पास-पास होना सूक्ति-कला वाली कविता के लिए, गीत के लिए मुफीद पड़ता है। महादेवी की यह भी सीमा है कि उनकी कविता में भाव का विकास नहीं होता, कोई अप्रत्याशित मोड़ नहीं लेती कविता। जैसा कि निराला के यहाँ बराबर महसूस होता है, उस तरह उनकी कविता प्रतिरोधों से जूझते हुए, विसंवादी भावों के बीच से अपना मार्ग निकालती हुई नहीं बढ़ती। उन्हें अपनी भाषा नहीं सिरजनी है; सिरजी हुई भाषा का—उसकी नवजात सम्भावनाओं का यथासम्भव अच्छे से अच्छा इस्तेमाल कर दिखाना है। महादेवी की रचनात्मकता विधायक कोटि की कल्पना की रचनात्मकता नहीं है। वह उद्‌भावनामूलक कल्पना के स्तर की है; 'फैंसी' है। 'आशा की माधुरी अवधि' जैसी प्रासादिक शब्द-सर्जना उनके बूते के बाहर है। पर वे इसी आशय की सूक्ति जरूर गढ़ सकती हैं। अवश्य ही इसमें कवि के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का स्पन्दन उस तरह महसूस नहीं हो सकेगा। महादेवी के काव्य की यह निर्वैयक्तिकता शिल्प की निर्वैयक्तिकता है। प्रसाद कहेंगे 'तुम हो कौन और मैं क्या हूँ, इसमें क्या है धरा सुनो/मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित मेरे क्षितिज उदार बनो।' महादेवी—भले ही वे ठीक-ठीक वही बात न कह रही हों—'क्षितिज' की यह कल्पना उनकी कल्पना को भी कहीं से छूती है और वे अपने ढंग से उसका सूक्ति-विन्यास कर लेती हैं जो हमें काफी अच्छा लगता है और हम उनके कौशल को सराहे बिना नहीं रह सकते।

इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके

काव्याभिव्यक्ति में सक्रिय इस 'प्रत्युत्पन्नमतित्व' को यदि हम सराहते हैं तो उचित ही है। महादेवी की कल्पना 'साहित्यिक' कल्पना है, यह कथन जहाँ उनकी सीमा बताता है, वहीं उनकी सामर्थ्य भी। एक अर्थ में महादेवी की कविता कृत्रिम है ठीक उसी तरह, जिस तरह कि सुभद्रा जी की कविता सहज है। पर यह विभाजन रुचि का सम्बोधित है, पूर्वग्रह को नहीं। कविता की कला में कृत्रिम और सहज का कोई आत्यन्तिक अर्थ नहीं होता। वहाँ दोनों के लिए बराबर गुंजाइश है।

महादेवी का स्वभाव और ... [illegible]

कतई नहीं है। विरोधी हम उन्हें मान भी लें तो पर सवाल यह है कि यह विरोधी कोटियाँ उनकी कविता से पूरी तरह बहिष्कृत क्यों है। यहाँ तक कि सामाजिक वैषम्य के प्रति जो तीखी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ उनके निबन्ध-लेखों में जगह-जगह झलक जाती है, उनका कविता में कहीं आभास भी न मिलेगा। प्रसाद और निराला ने अपने यह अतिक्रमण से इस तरह परहेज नहीं किया। न उन्होंने रहस्यवादी कविता की गुत्थियाँ छोड़ीं। उनकी कविता जीवन की सामाजिक भावना ही नहीं, जीवन की यथार्थता भी निस्सन्देह है। निराला ने प्रसाद द्वारा उन्मुक्त काव्य-संवेदना के क्षेत्र का विस्तार किया। महादेवी की कविता में न केवल निराला द्वारा विस्तृत काव्य-संवेदना का कोई संकेत नहीं उभरता, प्रत्युत वह निराला से पीछे जाकर प्रसाद की ओर देखती है और प्रसाद के भी अपेक्षाकृत कच्चे कृतित्व 'आँसू' की ओर। संवेदना के स्तर पर यह प्रतिगामिता क्यों है?

जो भी हो, इतना मानना ही पड़ेगा कि महादेवी ने छायावादी अभिव्यक्ति के रूपों का खूब अभ्यास किया और किसी हद तक उनका परिष्कार भी किया। यह अलग बात है कि इस परिष्कार के नतीजे हिन्दी कविता के लिए कम और हिन्दी गीत के लिए ज्यादा निकले। उन्होंने बच्चन का काम आसान कर दिया। महादेवी से पहले हिन्दी कविता में शब्द को वह 'अतिरिक्त' महत्त्व प्राप्त नहीं था जो उसे अनेक गीतों के ज़रिए प्राप्त हो गया। काव्याभिव्यक्ति की एकाग्रता को इस धुन्ध से चाहे जो क्षति पहुँची हो; भाषा की घुलावट तो बढ़ी ही।

निष्कर्ष रूप में हम फिर से दोहराएँ कि कविता महादेवी के लिए निखालिस आत्माभिव्यक्ति की बजाय कलाभ्यास के रूप में ही अधिक साध्य रही है। गद्य की भाषा में काम करते हुए वे खुली हवा में साँस लेती हैं पर काव्यभाषा में आते ही उनके चारों ओर दीवारें उग आती हैं। उनकी कविता की खाद साहित्य है और उनके गद्य की, जीवन तथा स्वयं उनकी और दूसरों की मनुष्यता। शैलीकार वे अपने गद्य में भी हैं। पर वह शैली जीवन की और स्वभाव की शर्तों को छोड़कर विकसित की हुई शैली नहीं है। उस गद्य के पीछे उस गद्य का एक वास्तविक संसार भी है। उनके गद्य और उनकी कविता के बीच कोई जीवन्त सम्बन्ध नहीं है। उनकी कविता 'कविताई' ही है। गद्यकार महादेवी में करुणा और विस्मय ही नहीं, आक्रोश भी है; शैली ही नहीं, व्यंग्य-विनोद और लीलावृत्ति भी है, व्यावहारिक ज्ञान और पकड़ भी है। आत्म-सुरक्षा के साथ-साथ परिस्थिति से मौलिक प्रतिशोध लेने वाला व्यक्तित्व और 'विट' भी है। यह ठीक है कि उनके पद्य की तरह उनका गद्य भी व्यवस्थित ही है, तो भी उस व्यवस्था में बाहर-भीतर की अव्यवस्था भी यदा-कदा झलक मारती रहती है, जबकि कविता में उतना खुलापन नहीं है। उसमें व्यवस्था ही व्यवस्था है, गढ़न ही गढ़न है, तराश ही तराश है। अगर प्रसाद और निराला कई जगह टूटते और बिखरते भी प्रतीत होते हैं तो उसका कारण यह नहीं है कि उनके आत्म-दान में ही कहीं कोई चूक है। महादेवी की कविता में अनुभव की अराजकता, व्यक्तित्व की अस्त-व्यस्तता कहीं नहीं झाँकती। यह कहना व्यर्थ है कि जो 'अनुभव' में ही नहीं, वह

कविता में कैसे होगा ? नही ! अनुभव में था ज़रूर; पर कविता में नहीं है। क्यों नही है ? महादेवी की कविता में सब-कुछ है; सिर्फ वह 'मर्त्य' अनुभव भर नही है जो उसे अमर बनाता। जो कि 'यह कसक अरे आँसू सहजा' मे है; जो 'चढ़कर मेरे जीवन रथ पर / प्रलय चल रहा अपने पथ पर' मे है; जो 'शून्य सृष्टि मे मेरे प्राण / प्राप्त करें शून्यता सृष्टि की / मेरा जग हो अन्तर्धान' मे है। और जो 'मोम सा तन गल चुका है / दीप सा मन रह गया है' मे नही है।

६

'आँसू' की प्रयोगशाला में प्रसाद

'तुलसीदास' और 'आँसू' दोनों में एक प्रेरणा समानरूप से निहित है—लौकिक प्रेम का उदात्तीकरण। निराला की कृति में यह प्रेम एक विशिष्ट देश-काल में सन्दर्भित है और प्रसाद में वह अधिक सामान्यीकृत है। कथातत्त्व 'तुलसीदास' में अधिक जरूरी है: वह पूरी कविता और उसके कथ्य के लिए एक अनिवार्य संरचनात्मक ढाँचा प्रस्तुत करता है। 'आँसू' में ऐसा कोई निश्चित संरचनात्मक ढाँचा नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसके छन्दों में अनिवार्य पूर्वापरता है ही। निश्चय ही निखालिस सूक्तियाँ ये नहीं हैं—कवि के वैयक्तिक उलझाव से सर्वथा स्वतन्त्र इन्हें नहीं किया जा सकता। उनके पीछे एक व्यक्तिगत अनुभूति का इतिहास भी अवश्य है: प्रारम्भ के छन्दों में ही एक ऐसा प्रवाह और नैरन्तर्य है जो विशिष्ट प्रेरणा और दबाव के बिना संभव नहीं। फिर आखिर क्या बात है कि आगे जाकर हम एक अजीब अवरुद्धता देखते हैं। हमें लगता है—भावों का विकास नहीं हो रहा है: कवि एक ही जगह खड़ा है। मार्मिकता है, द्रवण है, पर गति नहीं है। एक ही भाव की पुनरावृत्ति भी है; हालांकि पुनरावृत्त रूप पहले वाले रूप की अपेक्षा अभिव्यक्ति में अधिक बारीक है। कुल मिलाकर यही प्रतीति मन में उभरती है कि कवि को अपने भावों के उपयुक्त आलम्बन नहीं मिल रहा है। कवि अपनी आन्तरिकता में निमज्जित तो है पर उसे पूरी तरह प्रकाशित नहीं कर पा रहा है। इसलिए वह आगे बढ़ता भी है तो उसे अपनी दिशा का सही निश्चय नहीं होता और थोड़ी देर बाद वह वहीं आ जाता है जहाँ से चला था। अन्तर्जीवन की इस संकुलता को कवि अभिव्यक्त करता अवश्य है पर उससे उबर नहीं पाता। उसके पास वह मानचित्र और वह कुतुबनुमा नहीं है कि अपनी अनुभूति की थाह लेने के साथ उसके विस्तार से भी एकबारगी उत्तीर्ण हो जाए। 'आँसू' में यह गोलाकारी अवश्य है: कई बार उसके आवर्त्तन मोती

वे ऐसे यथार्थवादी हैं - जो मनोविश्लेषक और चिन्तक ज्यादा। उनका दर्शन उन्हें उदात्त नहीं देता, जैसा कि निराला को देता है, मिल्टन को देता है, दोनों को देता है। वह उन्हें अपने-आपको, अपने विचारों को या अपने युग के विचारों को बहुत गंभीरतापूर्वक लेने से रोकता है। वह उन्हें वह चीज देता है जिसे अंग्रेजी में 'विज़डम' कहते हैं और जो शायद गीतोक्त 'समत्वबुद्धि' या 'स्थितप्रज्ञता' के बहुत समीप पड़ती है। विचार की तेजस्विता तो निराला की कविता का बहुत प्रकट गुण है जैसा कि प्रसाद में वही सामान्यतः नहीं मिलेगा। उनमें विचारों का उद्वेलन नहीं है, अनुभूति का शान्त चिन्तन है। वे जीवन के आलोचक अवश्य हैं, पर ऐसे आलोचक, जो पक्ष नहीं लेता, प्रतिबद्ध नहीं होता। प्रसाद चित्तवृत्तियों का अध्ययन करते हैं और यथार्थ के केन्द्र में उन्हें यह चित्तवृत्तियों का ताण्डव ही दिखाई पड़ता है। यह उनकी जीवनानुभूति का मूलगत तत्त्व जान पड़ता है। यहीं से उनकी दार्शनिकता जन्म लेती और विकसित होती है। उनका दर्शन गहरे अर्थों में मनोवैज्ञानिक अर्थात् यथार्थवादी दर्शन है। बल्कि उसे दर्शन न कहकर 'योग' कहना अधिक यथार्थवादी होगा। प्रसाद की कविता एक योग-प्रक्रिया है। इस मानी में प्रसाद की दार्शनिकता और प्रसाद की कविता एक है। प्रसाद की काव्य-साधना और जीवन-दर्शन की साधना साथ-साथ चलती है और एक बिन्दु पर पहुँचकर अभिन्न हो जाती है। कदाचित् यही भारतीय सर्जनात्मकता का रहस्य है। इस जीवन-दर्शन में एक अन्तःप्रमाण, एक आधिकारिकता है जो मौलिक और स्वतःप्रेरित लगता है। दार्शनिक कवि वे इसी अर्थ में हैं। यह दार्शनिकता व्यक्तित्व में से हल की जाती है। प्रसाद उस तरह किसी एक हिन्दू-दर्शन के कवि नहीं हैं जैसे कि निराला वेदान्त के कवि हैं। यानी कि दर्शन की काव्य-सुलभ स्थिति तो निराला की कविता में प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकट तत्परता के साथ विद्यमान है। विचार निराला की कल्पना के पंखों में वेग भर देता है। यह बात प्रसाद के साथ नहीं है। प्रसाद की कल्पना जलचर है। वह एक ऐसे तत्त्व में रमण करती है जो उसे अधिक प्रतिरोध देता है। निराला को वायव्य तत्त्व अधिक सिद्ध है। इसलिए वे लिरिकल उड़ान के कवि हैं। उन्हें प्रतिरोध देनेवाली चीज मनोवैज्ञानिक या बौद्धिकता या दार्शनिकता नहीं है। उन्हें प्रतिरोध देने वाली चीज है स्वयं भाषा। हिन्दी का मिजाज और जो कुछ हो, लिरिकल तो नहीं ही है। मगर निराला के अधीर-उत्सुक, विद्रोही व्यक्तित्व के हिन्दी से टकराते ही एक निराली कविता का जन्म हुआ, जिसके लिए हमारे कान अभ्यस्त नहीं थे। कुछ ऐसी ताज़गी और तेज़ी उसमें थी जो कबीर ने जानी होगी या फिर गद्य लिखने वाले भारतेन्दु ने। ऐसा लगता है जैसे इस कवि-व्यक्तित्व और भाषा के बीच सहज निभाव नहीं है, भाषा को कवि की गति के बराबर चलने के लिए काफी कुछ भूलना पड़ता है, काफी कुछ छोड़ना पड़ता है, काफी बदलना पड़ता है। प्रसाद की समस्या सुलझाने की है, घुलाने की नहीं; स्पष्ट देखने की है, आत्मविस्मृत होने की नहीं। पानी में देखना ज्यादा मुश्किल होता है। प्रसाद चित्तवृत्तियों का अंधड़ देखते हैं : व्यक्ति के अन्दर भी, और समाज के अन्दर भी। इसी के हिसाब से, इसी की शब्दावली में वे यथार्थ को

उन्हें देखने में मुक्त है। विसंगतियों का निरोध उन्हें अभीष्ट नहीं। उनकी कविता के केन्द्र में वे रहते हैं। प्रसादजी भावों को, मनुष्य को तत्त्वतः देखने के आदी हैं, वास्तविकता नहीं। इस तात्त्विकता की खोज में भौतिकता की काफ़ी क्षति होती है। ऐसा लगता है कि प्रसादजी की प्रतिभा 'एपिसोडिक' ही है। विरोधाभास यह है कि प्रसाद की यह शक्ति यथार्थ के ही नकाबे में होती है। यथार्थ मानो उनके लिए कंकालवत् ही हो, हाड़-मांस का नहीं। मूलभूत संरचना का यह आग्रह हमें अंग्रेजी नाटककार बेन जॉनसन में भी मिलता है।

'आँसू' की कमज़ोरी यह है कि उसमें वह कंकाल, वह ढाँचा मौजूद नहीं है जो उसके कथ्य को रूपाकार दे सके। इसमें कवि वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के बीच कहीं अधर में लटका रह गया है। न वह उस पार है, न इस पार। विडम्बना यह है कि इसमें कई ऐसी पंक्तियाँ हैं जो दिमाग़ में घुमड़ती रहें। कई उत्कृष्ट भाव और अभिव्यक्तियाँ यहाँ बिखरी पड़ी हैं। पर जैसा कि ऊपर कहा गया, यह खण्ड-खण्ड सर्जनात्मकता है, अखण्ड कलाकृति नहीं। इसका आकर्षण मुख्यतः रूपात्मक आकर्षण है। कवि की भाव-साधना और शिल्प-साधना के रास्ते का एक अनिवार्य पड़ाव इसे मानना होगा।

एक छोटा-सा दृष्टान्त लीजिए : "दुःख क्या था उनको मेरा/जो सुख लेकर यों भागे/सोते में चुम्बन लेकर/जब रोम तनिक सा जागे/......।" यह भाव आगे 'लहर' की एक कविता में इस रूप में आता है—

> मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया
> आलिंगन में आते-आते मुस्क्याकर जो भाग गया

'आँसू' वाले छंद में भी बारीकी है, अभिव्यक्ति की कमनीयता है—बल्कि ायद इसमें मिठास कुछ ज्यादा ही है; दूसरे वाले उद्धरण के मुकाबले। मगर सरी अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण है, अधिक 'आत्मान्वित' है। उसमें कवि का व्यक्तित्व ी अधिक संयम, अधिक पूर्णता के साथ अभिव्यक्त है; उसमें अर्थ भी अधिक है। हले वाले रूप में रूप ज्यादा प्रबल है, उसके पीछे 'रसात्मक वाक्य' का उत्साह है, वि जैसे उस अभिव्यक्ति को तराश रहा है। जबकि दूसरे उदाहरण में एक सहज काव्य यथातथ्यता है। अभिव्यक्ति का कौशल कहीं भी कम नहीं, पर 'लहर' तक ाते-आते कवि इतना प्रौढ़ हो चला है कि वह अपने अभिव्यक्ति-कौशल का संवरण ी कर ले सकता है क्योंकि अब वह उसे सिद्ध हो चुकी है। 'आँसू' में ये सिद्धियाँ भी पनप ही रही हैं; पीछे नहीं छूटी हैं। 'लहर' वाली कविता में कवि का निश्चित थ्य पूरे आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त हुआ है और उसी में उपरोक्त पंक्तियाँ भाव संदर्भित है; जबकि 'आँसू' में वही भाव एक स्वतंत्र वाग्वैदग्ध्य की हैसियत रखता है। 'आँसू' के छन्दों में तराश है, दीप्ति है। मगर एक खतरनाक स्वयं-प्तता भी, जो कि इन्हें 'सूक्ति' के निकट ले आती है। जितनी भावावेगों की—तर्जगत् की—अव्यवस्था है उसे संतुलित करने वाली उस वजन की कलात्मक और संरचनात्मक एकता कवि पैदा नहीं कर सका है। सचेतन आदर्श प्रति

के सामने आशावादिता का है, उदात्तीकरण का है और जहाँ-तहाँ कवि की विजय भी हमें निश्चय ही अनुभव होती है। किन्तु स्थायी भाव और प्रभाव नैराश्य और करुणा का ही बनता है। कविता वहाँ नहीं है, जहाँ कवि अपनी आकांक्षा और साधना के बल पर पहुँचता या पहुँचना चाहता है, बल्कि वहाँ है जहाँ से कवि निकलना चाहता है—

आती है शून्य क्षितिज से, क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती सी, पगली सी देती फेरी

जो कवि का ध्येय है, आदर्श है, वह सदिच्छा और आदर्श के स्तर पर ही है। उत्कट कामना के बावजूद वह उनके अन्तर्जगत् का यथार्थ अभी नहीं बना। अतः उस आदर्श की कविता भी अपेक्षाकृत क्षीण है, अर्थक्षीण भी, सौन्दर्यक्षीण भी। और ज्यों ही कुछ कविता उसमें से आती भी है—

हैं पड़ी हुई मुँह ढँककर मन की जितनी पीड़ाएँ
वे हँसने लगें सुमन सी, करतीं कोमल क्रीड़ाएँ

त्यों ही निराशा का (अधिक बुनियादी आत्म-स्थिति का) काव्य फिर उस पर छा जाता है : "देखा बौने जलनिधि का/शशि को छूने ललचाना/वह हाहाकार मचाना/फिर उठ-उठकर गिर जाना···"

नतीजा यह कि 'आँसू' का उपसंहार हमें एक अजीब अपूर्णता का बोध कराता है, हमें पूर्णत आश्वस्त नहीं करता। क्योंकि कवि शायद स्वयं गहरे अवचेतन में उससे आश्वस्त और तदात्म नहीं है। "सबका निचोड़ लेकर तुम/सुख से सूखे जीवन में/बरसो प्रभात हिमकन सा/आँसू इस विश्व-सदन में"···यह एक निचोड़ ही है, निष्कर्ष ही है, पूर्णाहुति नहीं। हालाँकि यहाँ हमारा प्रयोजन 'तुलसीदास' और 'आँसू' की तुलना करने का क़तई नहीं है; महज अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए 'तुलसीदास' का प्रसंग उठाया गया है, तो भी 'आँसू' के इस समापन को पढ़ते हुए मुझे 'तुलसीदास' का समापक छन्द याद आ रहा है, जो पूरी कविता को वृत्त की-सी सुघर और अनिवार्य पूर्णता प्रदान करता मुझे प्रतीत होता है और अपनी अद्भुत सटीकता से 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की अन्तिम पंक्तियों का स्मरण करा देता है।

'आँसू की भावधारा' हमें प्रसाद के एक प्रारंभिक काव्य का—'प्रेमपथिक' का स्मरण कराती है। 'प्रेमपथिक' 'आँसू' की तुलना में बहुत कच्चा काव्य है। तो भी चूँकि उसमें एक निश्चित कथा-क्रम है, अतः पाठक उस कथा के प्रवाह में बहता चला जाता है, वह उस आदर्शवाद को भी कथा की मार्मिकता में सह लेता है और कविता में कवि की व्यक्तिगत उपस्थिति से बाधित नहीं होता। कथा कवि की जीवनी को भी, व्यक्तित्व को भी जज़्ब कर लेती है। एक सूत्र में पिरो देती है उसके भाव-संवेगों को। और इस प्रकार वे भाव-संवेग सुघर स्वतन्त्रता के साथ अभिव्यक्त होते हैं। 'आँसू' का कवि निश्चय ही अधिक प्रौढ़ है, उसकी किशोर भावुकता भी बहुत-कुछ छँट चुकी है। मगर उपयुक्त कथा-आलम्बन या समनुनित कथाकार के अभाव में कवि का तत्कालीन

··· उन्मोचन उपलब्ध नहीं ··· ।

शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर, करती है काम अनिल

यह किसी निश्चित वास्तविक अनुभूति का नहीं, बल्कि उक्ति
देता है। अनिवार्य भाव की अनिवार्य अभिव्यक्ति की बजाय इसमें
व्यक्ति दोनों को ही तराशने-सँवारने का यत्न प्रमुख हो गया है। इ

छिल-छिल कर छाले-फोड़े, मल-मल कर मृदुल चरण
धुल-धुल कर वह रह जाते, आँसू करुणा के क

इसमें भी वही अतिरिक्तता, वही वैचित्र्य-मोह दिखलाई प
भूति की स्वाभाविकता सन्दिग्ध हो जाती है। कवि अपने भावावेग
प्रेरणा या कलानुभूति के दबाव में पकड़ता-ढालता नहीं, बल्कि उ
साथ प्रयोग करता दिखलाई पड़ता है। ऐसा विस्तरण और सचेत
के स्वाभाविक प्रवाह में व्याघात पैदा करता है और अनावश्यक
करता है। कविता से हमारा ध्यान हटाकर कवि पर—उसके
जमा देता है। विडम्बना यह है कि इस व्यर्थ के अलंकरण के तुरन्त बाद
वेदना को ले, किसने सुख को ललकारा/वह एक अबोध अकिंचन, बेसु
जैसी मार्मिक और वेधक स्वाभाविक कविता मिलती है, जिसके
चार अवतरण हमें क़तई प्रस्तुत नहीं करते।

हम अनुभव करते हैं कि 'आँसू' में जहाँ एक ओर कहीं-क
की विशिष्ट-एकमात्र संभव अभिव्यक्ति चमकती हुई आती है, वहीं
लगी-लिपटी ऐसी भी चीजें मौजूद हैं जो बिखराव पैदा करती हैं
ज्यादा कुछ नहीं करतीं। उदाहरण के लिए—

बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों

इन पंक्तियों में व्यक्तिगत अनुभूति का दबाव उतना नह
काव्य-रूढ़ि का—भर्तृहरि के एक श्लोक का—उपयोग। इस
पाली में सीधी-सादी स्मित-रेखा' तक तो ठीक है; किन्तु '
जिसने माँ में बल देखा'···हमें फिर से संस्कृत काव्य के एक
दिला देता है और काव्यानुभूति पर हमारी एकाग्रता ढीली पड़
इससे आगे वाले छन्द का भी है···'विद्रुम सीपी सम्पुट में, मो
न शुक यह, फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे?'···क्या यह स
अनिवार्य था? सांकेतिकता का सम्राट यह कवि यहाँ क्यों इ
या भावुकता को आमन्त्रित कर रहा है? क्या कवि को अपने
कि अनुभूति की तीव्रता पर अविश्वास था कि उसे इत-अ

उज्ज्वल होकर है जीना/…" यह मात्र उक्ति-वैचित्र्य नहीं है। इसमें कवि के एक मौलिक जीवन-दर्शन की ओर बढ़ने का—अनुभव की अव्यवस्था में से निकलकर वास्तविक आत्म-विकास की ओर प्रगति करने का—संकेत है। 'आँसू' में यह आत्मसंघर्ष और आत्मान्वेषण का स्वर क्षीण होते हुए भी इतना निजी और विलक्षण है कि उसकी विशिष्टता आशावाद और निराशावाद के द्वैत को सतही बना देती है: "चुन-चुन ले रे कन-कन से/जगती की सजग व्यथाएँ/रह जाएँगी कहने को जन-रंजन करी कथाएँ" …यह पूर्वाभास है लहर की उस प्रौढ़ आत्माभिव्यक्ति का—'अपलक जगती हो एक रात'…और 'यह विडम्बना अरी सरलते, तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं/भूलें अपनी या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं"…। निश्चय ही यहाँ कवि का स्वर अधिक आत्म-घनिष्ठ और आत्मविश्वासपूर्ण है क्योंकि वह ठेठ अपनी आवाज़ में बोल रहा है। हम फिर दुहराएँगे कि 'आँसू' में कवि अभी पूर्णत: अपनी असली आवाज़ में बोलने का आत्मविश्वास नहीं सिद्ध कर सका है। उसे अभी अपनी मौलिक आवाज़ मिली नहीं है; वह अभी उसे प्राप्त करने की साधना में संलग्न है। उतना कच्चापन और बिखराव-भटकाव 'आँसू' में अवश्य है। हालाँकि इसका अर्थ यह नहीं है, कि इसीलिए इसका मूल्य नहीं है या कि इसका अन्त वहीं 'चेतना लहर न उठेगी…' पर हो जाना चाहिए था। जैसा कि हम अनुभव करते हैं, बाद वाला खण्ड कुछ जोड़ता भी है ही। कलाकृति के रूप में भले ही उस कविता को यह अधिक एकता नहीं देता, किन्तु कथ्य की समृद्धि की दृष्टि से, अभिव्यक्ति-साधनों की दृष्टि से वह फ़ालतू नहीं है। ज़रा ग़ौर कीजिए इस छन्द पर; और देखिए कवि कहाँ से बोल रहा है, कितनी गहरी बात कह रहा है:

> संकेत नियति का पाकर, तम से जीवन उलझाए
> जब सोती गहन गुफा में, चंचल लट को छिटकाए

और इस मर्म को पा चुकने के बाद सीधे निम्नलिखित छन्द पर आइए। बीच में कुछ मत पढ़िए। सीधे यहाँ पहुँच जाइए—

> इस स्वप्नमयी संसृति के, सच्चे जीवन तुम जागो
> मंगल-किरणों से रंजित, मेरे सुन्दर तम जागो

क्या इसके बाद भी आप 'आँसू' के कवि को आशावाद और निराशावाद के सतही (और सच पूछिए तो भारतीय तत्त्वचिंतन की दृष्टि से निरर्थक) कठघरों में बाँधने की हिम्मत करेंगे?

निष्कर्ष यही कि प्रसादजी 'आँसू' में अपनी तत्कालीन आत्मस्थिति के अनुकूल उपयुक्त आलम्बन और कलारूप की खोज नहीं कर सके जो उन्हें उनकी मानसिक परिपक्वता के उस स्तर पर सच्ची और पूरी अभिव्यक्ति दे सकता। वह कलारूप उन्हें नहीं मिल सका जो उन्हें अपनी भावदशाओं में निमग्न होने दिये बिना उनकी समूची आन्तरिकता को एकाग्र उन्मोचन दे सकता। हम देखते हैं इनमें से कई भावदशाएँ स्वतन्त्र प्रगीतों के रूप में 'लहर' में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त हुई हैं और उन पर निसन्देह प्रसाद के वैशिष्ट्य की पूरी छाप है। 'आँसू' में अनेक बातें कवि ने एक साथ

उठानी चाही हैं और वह सूत्र, वह संरचना नहीं है जो उन सबको एक
सन्दर्भ और तारतम्य दे सके। प्रसाद की गीत-प्रतिभा और प्रबन्ध-क्षमता
एक अस्थिर संतुलन की स्थिति में है। किन्तु प्रबन्ध की दिशा में उनका
रोचक है और उससे उन्होंने काफी कुछ सीखा है। शुरू से ही प्रसाद-काव्य में
रुझान साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। एक ओर 'महाराणा का महत्व' और 'प्रेम
जैसे लम्बे कथा-काव्य'''और दूसरी ओर वे फुटकर कविताएँ जो 'झरना' व 'ल
संकलित हुईं'''। दोनों प्रवृत्तियों का उत्कृष्ट मेल 'कामायनी' में आकर हुआ।
पूर्व उन्होंने 'आँसू' में यह एकीकरण का प्रयास किया था। वह सफल नहीं हुआ
उसकी अपनी सार्थकता है। भावी सफलता के बीज उसमें दिखाई दे जाते हैं।
के आत्मविकास की दिशा तो इस काव्य से स्पष्ट सूचित होती ही है, साथ ही
अभिव्यक्ति और शब्द-साधना विषयक प्रगति का भी बोध हमें 'आँसू' के छन्दों से
है। खासकर इस दूसरे धरातल पर इस 'काव्य' का महत्व अनुपेक्षणीय है। हम
देख ही आए हैं कि 'आँसू' प्रसाद के रूपात्मक मिजाज और तैयारी के कई
को सामने रखता है। यह प्रयोगशीलता—अनिवार्य और आवश्यक प्रयोगशी
जिसका कि कविकर्म में बुनियादी महत्व होता है—आँसू की प्रमुख विशेषता
इस दृष्टि से यह रचना प्रसाद की काव्य-साधना का एक महत्वपूर्ण सोपान है
प्रसाद के पाठकों-आलोचकों को प्रसाद की प्रयोगशाला की एक ऐसी झलक
इसमें मिलती है जैसी कि प्रसाद की किसी अन्य काव्यकृति में नहीं मिलती।
हम कवि को संस्कृत, उर्दू और हिन्दी काव्य की भी अनेक परम्पराओं को
में आत्मसात् करते देखते हैं और उस निजता अपनी मौलिक
होते हुए भी, जिसके बिना 'कामायनी' की सिद्धि संभव नहीं थी।

७

ताज़ी कविता का एक और सबक़

'तुलसीदास' का निराला की कवि-जीवनी में लगभग वही स्थान और वही महत्व है जो कि 'कामायनी' का प्रसाद की कवि-जीवनी में। इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है कि कवि के व्यक्तित्व को—जितना जो-कुछ जिन्दगी ने कवि के साथ और कवि ने जिन्दगी के साथ किया है, उसको—और कवि के विशुद्ध कवि-कर्म को, उसकी शब्द-साधना को—जितना जो-कुछ उसके कवि-कर्म के लम्बे इतिहास में भाषा ने उसके और उसने भाषा के साथ किया है, अर्थात् भाषा के साथ उसकी अर्जित आत्मीयता और कर्मकौशल को—एक ऐसी कृति में इकट्ठा निकास मिल जाए जो उसकी इन दोनों प्रगतियों को एक कर दे, कुछ इस तरह कि दोनों एक-दूसरे में जज़्ब हो जाएँ। अनेक अन्तरालों से इस कविता को पढ़ते हुए, हर बार उसी ताज़गी और शक्ति के अनुभव से गुज़रते हुए यही लगा है कि 'तुलसीदास' का रचना-क्षण एक ऐसी ही रासायनिक घटना थी जब एक विशिष्ट प्रेरणा के सम्मुख यह कवि अपनी पात्रता को सम्पूर्ण आत्मविश्वास के साथ सिद्ध कर सका और उसे भगीरथ की तरह अपने समूचे मस्तिष्क और स्नायु-जाल में से प्रवाहित करके अपनी भाषा के भूगोल में रचा सका।

यह रचाव, सर्जनात्मक उन्माद का यह स्तर अपने यहाँ मुश्किल से कभी देखने में आता है और सचमुच ऐसी कविता का अवतार भाषा को एक नया जीवन दे जाता है: उसकी ऐसी संभावनाएँ उजागर कर जाता है जिसकी उस कवि के बगैर हमें कल्पना भी नहीं हो सकती थी। दूसरे शब्दों में ऐसी रचना का क्षण उस कवि के लिए ही नहीं, उस भाषा के लिए भी एक गहरी मुक्ति का क्षण होता है। कवि के लिए तो कि इसमें अन्तः-विकास की प्रक्रिया पर हमारा उतना वश नहीं पर हमारे दरवाज़े की बजती रहती है, और अपनी ही आत्मशक्ति का विस्फोट दोनों के साथ-

गाय स्वयं कवि के लिए भी कम अचरज की बात नहीं होती। हालाँकि यह सच है कि उसे इस क्षण के लिए, इस अयाचित आत्मसाक्षात्कार की दिशा में निरंतर सचेत उद्योग भी—अभिव्यक्ति के स्तर पर—करते रहना पड़ता है: बिना इस सचेत उद्योग के वह उस प्रेरणा के लिए ऐन वक़्त पर स्वयं को सन्नद्ध भी नहीं पा सकता;—किन्तु यह सच है कि इस धीरज और अनवरत साधना के फलस्वरूप ही सही, दीप्त प्रेरणा का यह क्षण उसे कुछ ऐसा उन्मोचन दे देता है कि जैसा अब तक के काव्याभ्यास में उसने नहीं जाना था। मानो वह सारी साधना तो केवल एक अनिवार्य तैयारी भर थी इस एक और अद्वितीय रचना के प्राकट्य के लिए। तभी तो यह संभव होता होगा—ऐसा अवकाश...इतनी स्वतंत्रता...इतनी सारी ग्रन्थियों-संस्कारों का एक साथ खुल जाना...खण्ड-खण्ड लिये गये अनुभवों और खण्ड-खण्ड सोचे गये विचारों का एक ऐसी एकता और परस्पर सम्बद्धता में संगुम्फित होकर आना जो चेतना और अवचेतना के विशिष्ट सहयोग के बगैर संभव नहीं; क्योंकि आत्म-विकास की प्रक्रिया अवचेतन में चलती रहती है और अभिव्यक्ति-सामर्थ्य के विकास की प्रक्रिया—वाक् और व्यक्तित्व के सर्जनात्मक सहयोग की अनुभव-प्रक्रिया सचेतन स्तरों पर।...

निराला 'तुलसीदास' तक आते-आते—सन् अड़तीस तक—काफ़ी-कुछ लिख चुके थे, अपने लगभग सभी ख़ास छन्दों में काम कर चुके थे; विभिन्न मनःस्थितियों को, प्रकृति से अपने रागबन्धों को, अपने संघर्षों को तथा आध्यात्मिक प्रतीतियों को शब्द-बद्ध कर चुके थे। सूक्ष्म आसक्तियों और सौन्दर्यानुभूतियों से लेकर कुरूप, प्रतिकूल-संवेद्य यथार्थ के व्यंग्य-विद्रूप तक, शृंगार-संवेदनाओं से लेकर ठेठ वैराग्य और नैराश्य तक जीवनानुभूति के कितने ही पहलुओं से वे गुज़र चुके थे। 'सरोज-स्मृति' और 'राम की शक्तिपूजा' लिखी जा चुकी थीं। इस दौरान छन्द की मुक्ति ही नहीं छन्द में मुक्ति को भी वे अपनी रचनाओं में चरितार्थ कर चुके थे। हिन्दी की वाग्देवी उन पर प्रसन्न हो चुकी थी—उसके कठिन-से-कठिन और सरल-से-सरल रूपों को उन्होंने सिद्ध कर दिखाया था। और बावजूद इस तथ्य के कि उन्होंने उसकी अनुकूलता सिद्ध करने के लिए मात्र भक्त की समर्पणशीलता से ही नहीं, बल्कि हर तरह के हठ और ज़ोर-ज़बर्दस्ती से भी काम लिया था—उसके साथ ऐसी भी छूटें ली थीं जैसी दूसरा कोई कवि लेने की हिम्मत नहीं कर सका था (और करता, तो मारा जाता), इसके बावजूद उन्होंने ठेठ तत्सम से लेकर ठेठ तद्भव तक हर शब्द की सख़्त-साल परख डाली थी।

अब समय आ गया था एक ऐसी रचना में इस सारी शब्द-साधना को एकाग्र करने का, जो उनकी समूची ज्ञान-संवेदनात्मक चेतना को झंकृत करे और दूसरी ओर उन्हें उनकी महत्त्वाकांक्षा के चरम तक एकबारगी उठा सके—उन्हें अपने कवि-व्यक्तित्व की सार्थकता का प्राकट्य अन्त.प्रमाण दे सके।

हमें ऐसा लगता है कि 'राम की शक्तिपूजा' से कहीं अधिक 'तुलसीदास' ने निराला के कवि को यह दोहरा सन्तोष और उन्मोचन प्रदान किया है। दोनों कविताओं के संगठनात्मक ढाँचे पर भी ज़रा तुलनात्मक दृष्टि से विचार कर देखें।

निराला सच्चे रोमानी कवि हैं। वे अपनी हर कविता के केन्द्र में होंगे ही। 'तुलसीदास' में भी हैं। किन्तु रोमानी काव्यदृष्टि भी जायज है : महत्त्व की बात यह नहीं है कि कवि की मुख्य वृत्ति रोमानी है या क्लासिकी; महत्त्व की बात तो यह देखने की है कि वह कितने और कैसे यथार्थ के केन्द्र में है—यथार्थ की कितनी परिधियों को वह अपने रचना-केन्द्र से नियंत्रित और विन्यस्त कर रहा है। इस दृष्टि से देखने पर हमें अनुभव होता है कि निराला ने 'तुलसीदास' में अधिक ऊँची उड़ान भरी है, अपने भीतर भी अधिक गहरे झाँका है और, इतना ही नहीं, अपने देश-काल को, तत्सामयिक परिस्थितियों के साथ अपने रचनात्मक उलझाव को भी कविता के विन्यास में चरितार्थ किया है। उनका विशिष्ट व्यक्तित्व-रस ही नहीं, 'अध्यात्म-रस' (इस शीर्षक की उनकी कविता देखें) भी यहाँ आकर रस लाया है; देश, समाज और संस्कृति की समस्याओं के साथ उनके व्यक्तिगत सम्बन्धों का भी असली परिपाक यहाँ हुआ है; और सबसे बड़ी बात यह है कि गहरे व्यक्तित्व-रस से अनुप्राणित होते हुए भी यह कविता उस व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं है : इसमें काव्य-अर्थ का संवरण और स्वतन्त्र व्याप्ति निश्चय ही 'राम की शक्तिपूजा' से कहीं अधिक अनुभव होती है। यहाँ तक कि हम कह सकते हैं कि अपने 'आदर्श' कवि (तुलसीदास) में जिस कोटि की कला की कल्पना उन्होंने की है, वह काफ़ी हद तक उनकी इस कविता में फलीभूत हुई है :

> हो गये आज जो खिन्न-खिन्न
> छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न
> यह अकल, कला गह सकल छिन्न जोड़ेगी

कहने का तात्पर्य यह है कि 'तुलसीदास' निराला के कवि के किसी एक उलझाव को, किसी एक आदर्श को, किसी अनुभव या बेचैनी को ही अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि उन्हें उनकी एक ऐसी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करता है जो उनकी इससे पहले या बाद की किसी एक रचना में नहीं मिलेगी। यहाँ कवि की कला ऐसी 'अकल कला' है जो उनके 'सकल छिन्न' को एकबारगी 'गह' कर जोड़ देती है।

यह इसलिए भी संभव हो सका कि 'तुलसीदास' की विषय-वस्तु से कवि का जिस प्रकार का, जिस कोटि का तादात्म्य है, वैसा दूसरी रचनाओं में नहीं हो सकता था। निराला व्यक्तित्व के, रागात्मक ऐश्वर्य के कवि हैं; व्यक्ति और अस्तित्व के संघर्ष के कवि उस तरह वे नहीं हैं। अस्तित्व का चिन्तन उनके लिए संघर्ष का क्षेत्र नहीं है : उसकी सन्दर्भ-पीठिका उन्हें वेदान्त में सुलभ है। उन्हें अपने कवि-व्यक्तित्व में अधिक विश्वास है। यह कवि-व्यक्तित्व ही उनके निजी संघर्ष का क्षेत्र है। कविता उनके लिए एक सीधी रागात्मक प्रतिक्रिया, एक व्यक्तित्व-संगठन पहले है, पर्यन्वेषण की प्रक्रिया बाद में। उनके इस सर्वाश्लेषी अहं को वेदान्त से उत्तेजना और अनुमोदन प्राप्त होता है। प्रसाद की स्थिति इससे थोड़ी भिन्न है। प्रसाद वस्तुओं को, मनुष्य को, मानसिक प्रक्रियाओं को तत्त्वतः देखने के आग्रही जान पड़ते हैं, व्यक्तित्व नहीं। प्रसाद की जो कमज़ोरी है, जो चीज़ प्रसाद में हमें खिझाती है वही चीज़

निराला में हमें रिझाती है, बल्कि वह निराला की ताकत बन जाती है। निराला की चारित्रिक विशेषता और चारित्रिक जरूरत है—सहानुभूति। प्रसाद इसके विपरीत अनुभूति-विश्लेषण और अनुभूति-संज्ञान का आग्रह रखते हैं : उस स्वयं-पर्याप्त संतुलन और आत्मनिर्भरता के क़ायल हैं जो चित्तवृत्तियों के अध्ययन एवं निरोध से, संवेदनात्मक चेतना को ज्ञानात्मक चेतना से लगातार प्रतिपल करते रहने की स्वाभाविक (और ऐच्छिक) माँग में से आता है।

तो 'तुलसीदास' में एक निश्चित कथा-वस्तु है और वह कवि की भावनाओं को, उसके जीवनानुभवों को बहुत सारे बिन्दुओं पर पकड़ती है। निराला के कवि-स्वभाव को देखते हुए यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे कवि को जो भी विषय-वस्तु जितनी अधिक विस्तृत और गहरी एकात्मकता देगी, उतना ही वह उसकी आत्माभिव्यक्ति की पूर्णता को संभव बनाएगी। 'तुलसीदास' में—बावजूद इस कठिनाई के कि सामान्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैसा चमत्कार और हृदय-परिवर्तन संदिग्धता से बरी नहीं—हमें ऐसा कुछ नहीं मिलता जो कि कवि के चरितनायक और उसकी अन्तर्कथा के भीतर से प्रकाशित न हो। क्या कोई उच्चतर मनोविज्ञान इस सामान्य मनोवैज्ञानिक कठिनाई पर हावी हो गया है ? पहली बात जो समझ में आती है, वह यह है कि तब तो एलियट का 'वस्तुनिष्ठ अन्योन्याश्रयता' वाला सिद्धान्त ही ग़लत है। दूसरी बात जो समझ में आती है, वह यही कि अगर इस सिद्धान्त में दम है और यह विश्वसनीय कसौटी है, तो वास्तव में 'तुलसीदास' की यह कथा निराला के तत्कालीन भाव-संवेगों लिए, उनकी उस वक़्त की मानसिकता के लिए उपयुक्त और सटीक आलम्बन का, सही और साफ़ 'वस्तुनिष्ठ अन्योन्याश्रयता' का काम दे गयी है। इसका प्रमाण है यह कविता स्वयं। इसकी ताजगी और प्रवाह। इसके छन्द की अद्भुत उपयुक्तता और विचक्षणता। इसके भाषिक साधनों की पर्याप्तता, सहज लचीलापन और आत्मविश्वासपूर्ण गति-लाघव। स्वतंत्रता। यह कैसे, क्योंकर हो सका ? इसका कारण है अपने चरितनायक के साथ कवि का पूर्ण मानसिक तादात्म्य। तुलसी की जीवनी और परिस्थिति के साथ भी कवि द्वारा अनुभव किया एक साम्य (भले ही दूरवर्ती साम्य; किन्तु कल्पना-शक्ति और सहानुभूति-शक्ति के द्वारा सहज स्थापित; सुदृढ़)। तुलसी की अन्तर्कथा निराला की अन्तर्कथा को चारों ओर से समेटती-छूती है। कुछ ऐसी अनिवार्यता और कशिश इस तादात्म्य में है कि वह कविता को अपने ही दबाव से ढालती प्रतीत होती है और कुछ भी अस्वाभाविक और अतिरिक्त नहीं लगता। कवि का सारा कथ्य, सारी उत्तेजना कथा के प्रवाह में ढलती चली जाती है : अलग से कवि-व्यक्तित्व की ओर ध्यान आकर्षित करने वाली अतिरिक्तता नहीं रह जाती।

'सरोज-स्मृति' का तो संगठन और रूपाकार ही भिन्न है। वहाँ तो कवि स्वयं भी अपनी कविता का चरितनायक है और उसकी निजी कथा का सीधा आत्मीय प्रवाह [illegible] को आकार देता चलता है। किन्तु 'राम की शक्ति पूजा' में—हालाँकि उस [illegible] में भी बड़ी क्षिप्रता और गति है और चरितनायक की एक विशिष्ट मन स्थिति

के साथ कवि का आत्म-प्रक्षेप भी आरोपित नहीं लगता, सहज ही लगता है—तो भी, यह तादात्म्य वहाँ उतनी कविता नहीं देता, कवि की उतनी आन्तरिकता को नहीं उकसाकर बाहर लाता जितना कि 'तुलसीदास' में। कारण यह भी हो सकता है कि 'शक्तिपूजा' की धारणा और कथा में हमारे भीतर वैसा निश्चित और पुष्ट भाव-संवेग पैदा कर सकने की सामर्थ्य नहीं है जैसा कि कवि का अभीष्ट है। तो भी—कथागत मार्मिकता चाहे उसकी जो हो—कविता के संघटन में, कवि के पक्ष में उसमें से वांछित अर्थ-निष्पत्ति नहीं होती : राम के अन्तर्द्वन्द्व से कवि के वास्तविक संघर्ष का वैसा सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता जैसा कि तुलसी के साथ अनायास हो जाता है। ऐसा लगता है कि 'राम की शक्तिपूजा' तक निराला अपनी अन्दरूनी छटपटाहट को, कवि की हैसियत से अपनी आन्तरिक जटिलता को पूरी तरह अनुभव नहीं कर सके थे। कवि को आत्मज्ञान तो कविता लिखकर ही होता है, उसके पहले नहीं। हो जाए तो वह कविता कैसे लिखेगा? क्यों लिखेगा? उसके भीतर का द्वन्द्व और दहन 'शक्तिपूजा' में व्यक्त हुआ है पर वह प्रकाश नहीं उत्पन्न हुआ जिसकी उन्हें खोज थी। उनकी समस्या केवल जीने की ही नहीं, रचने की भी थी। जीने के विकट संघर्ष को, परिस्थिति से मौलिक प्रतिशोध लेने की अपनी बेचैनी को शब्द और शब्द की रगड़ और करामकश में वे मूर्त कर सके थे, इसमें संदेह नहीं : इतना अधिक प्रतिरोध पद्य में आमंत्रित करके इतने सफल पराक्रम के साथ उससे आज तक कोई हिन्दी कवि नहीं जूझा। शब्दों का यह तुमुल संग्राम कवि की अन्दरूनी छटपटाहट के समकक्ष है। पद्य में, उनकी विशिष्ट लयगति और स्वर-व्यंजनों की टकराहट में अपने संघर्षशील व्यक्तित्व को ही कवि ने मानो मूर्त कर दिया है। प्रसंगवश यहाँ यह भी कह देना ठीक होगा कि यह लय निराला की, उनके व्यक्तित्व की खास अपनी लय है। 'सरोज-स्मृति' इसी में है; 'तुलसीदास' में भी इसी का उपयोग है। यहाँ तक कि निराला के जीवनीकार और समर्थ आलोचक रामविलास शर्मा भी जब कविता में अपने आलोच्य का मूल्यांकन करने बैठते हैं तो अनायास इसी छन्द में अपनी भावनाओं का उन्मोचन पाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'राम की शक्तिपूजा' 'तुलसीदास' की दिशा में एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण पड़ाव था। किन्तु वह शक्तिसंचय ही है, चरितार्थता नहीं। उस कविता का समाधान भी हमारा समाधान नहीं हो पाता क्योंकि वह स्वयं निराला का समाधान नहीं है। उनकी सारी वृत्तियाँ वहाँ एकाग्र नहीं हैं। वह एक उपक्रम है, एक उद्बोधन…और हम कवि के साथ वहीं छूट जाते हैं। "बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युद्गति हतचेतन राम में जगी स्मृति हुए सजग या भव प्रसन्न"…कवि कहता अवश्य है किन्तु हमारी कल्पना उसकी कल्पना का साथ नहीं देती…कुछ बीच में छूटता नजर आता है। कथा आगे बढ़ जाती है किन्तु उसमें मची-निराली कवि की अन्तर्वंचना पीछे ही छूट जाती है। और 'शक्ति' का उदय कथा की तरह कविता में नहीं अनुभव होता।… जिस तरह कि वह 'तुलसीदास' में होता है : "निश्चल केवल ध्यान-मग्न। जागी योगिनी अरूप-लग्न"…। यहाँ पर और आगे भी जो क्रमशः तीव्रतर होती हुई विशिष्ट नदात्मक उत्तेजना है, वह कथा की नहीं, विशुद्ध कविता की है। इसमें शब्दों की

परम अनुभूति की, अपनी सरस्वती के साक्षात्कार की, स्नायुओं में उसके वास्तवि[illegible] अवतरण की कविता की है। यह तुलसी के मुक्ति-क्षण से उत्तेजित कवि की कल्पनात्म[illegible] सहानुभूति ही नहीं, बल्कि निराला की अपनी ही सरस्वती के साक्षात्कार की निवि[illegible] एकाग्रता में उड़ान भरती कविता है।

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अन्ध रात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल
बाँधो-बाँधो किरणें चेतन
तेजस्वी है तमजिज्जीवन
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल

'तुलसीदास' के रचना-विधान में एक वृत्त की-सी सम्पूर्णता है। वह भी, एक नहीं, अनेक समकेन्द्रिक वृत्तों की। व्यक्तिगत जीवनी में देश-काल का जीवित सन्दर्भ गुंथा हुआ है और वह देश-काल भी एक व्यापकतर देश-काल में, एक समूची संस्कृति के इतिहास में संदर्भित हो गया है। और यह संस्कृति भी जैसे एक विराट् सर्जनात्मकता के अधीन विन्यस्त है। इस प्रकार केन्द्र में कवि का सर्जनात्मक व्यक्तित्व है जो चारों ओर से तुलसीदास के सर्जनात्मक व्यक्तित्व से समालिंगित है। एक ओर निराला के परिवेश का वृत्त है और दूसरी ओर उससे समकेन्द्रित, उसके दर्पण सरीखा तुलसी के देश-काल का वृत्त है और इन सबको समोये हुए भारतीय संस्कृति का वृत्त... इन सबको एक साथ झंकृत करती हुई कवि की सर्जनात्मकता है जो इन सब परिधियों तक धड़कती रहती है: इस अद्भुत नृत्यशील छन्द की तरह।

इस प्रकार तुलसीदास के साथ कवि का मानसिक तादात्म्य कई स्तरों पर कार्यशील होता है। यह मात्र जीवनीगत या विशेष स्थितिप्रेरित उलझाव नहीं है। इसे यथार्थ और आदर्श, दोनों धरातलों पर कारगर होते हम देखते हैं। यह व्यक्तियों का ही नहीं, व्यक्तित्व को परिभाषित करने वाले देशकाल-युग-परिवेशों का भी तादात्म्य है। इससे भी आगे बढ़कर यह स्वयं सर्जनात्मक प्रेरणा का ही तादात्म्य है:

देश काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएगी

'देश-काल के शर से बिंधे हुए' पूर्णतर कवित्व का यह जागरण तुलसीदास का ही नहीं निराला का भी है। यह एक साथ पुनर्मूल्यांकन है अपने प्रथम कवि का, और आत्मविश्वासपूर्ण दर्शन भी अपने काव्यादर्श का। 'शक्ति की मौलिक कल्पना' का जो संकेत कवि ने 'राम की शक्तिपूजा' में उभारा था, वह यहाँ आकर चरितार्थ हुआ है। 'तुलसीदास' सर्वप्रथम शक्ति (सर्जनात्मकता) की इस मौलिक कल्पना का ही प्रतिफलन है। यह कल्पना ही इस कविता को ऐक्य और घनिष्ठता देती है। यह इसी का फल है कि रत्नावली के रूपान्तरण और तुलसी के हृदय-परिवर्तन के प्रति हमारी प्रतिक्रिया वही होती है जो कवि चाहता है। हम मनोविज्ञान का संगत नहीं

उठाना भूल जाते हैं : हमारा संशय स्थगित हो जाता है और हम वही देखते हैं जो कवि देख रहा है। उसी दुर्निवार प्रेरणा के खिंचाव से बँधे हुए···

देखा शारदा नील-वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना
जीवन-समीर शुचि-निःश्वसना वरदात्री

···ऐसा लगता ही नहीं कि कवि किसी तुलसीदास की कथा कह रहा है··· ये छन्द उसी की आन्तरिकता के खिंचाव में नृत्य करते चले आते हैं···। कवि अपनी ही अनुभूति पर एकाग्र है···। "जिस कालिका में कवि रहा बन्द / वह आज उसी में खुली मन्द"···मनोविज्ञान की पहुँच से परे इस पंक्ति के मर्म से हम संवेदित होते हैं···कवि की मुक्ति का अन्तःप्रमाण इस लयात्मक उत्तेजना में रचा हुआ है··· क्योंकि यह तुलसीदास की ही नहीं, कवि निराला की, बल्कि कवि मात्र की मुक्ति है। भाषा की मुक्ति है। यह आकस्मिक नहीं कि यहाँ व्यक्तित्व के स्मारक नहीं, तीव्र-बेधक पंक्तियाँ हमें कवि-व्यक्तित्व की याद नहीं दिलातीं · कवि अपनी कविता में ओझल होता जाता है। एक ही बिम्ब, एक ही छवि, एक ही भावना बार-बार कौंधती-झलकती है : सरस्वती की, सर्जना की, कवि-कर्म की, कवि की···

होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशि-बासर
कवि का प्रति छवि से जीवनभर, जीवनहर
भारती इधर हैं, उधर सकल
जड़जीवन के संचित कौशल
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल मायाकर

यह 'भारती', 'सरस्वती', 'कला', सर्जनात्मकता कवि के लिए उस चैतन्य का प्रतीक है जो जड़ता के विरुद्ध अनवरत संघर्षरत है। इस प्रकार सर्जनाशक्ति को कवि इस कविता में एक ऐसी कॉस्मिक शक्ति के रूप में साक्षात् करता है जो जड़ जीवन के संचित कौशल से लड़ रही है। 'जीवनहर जीवनभर' के मार्मिक विरोधाभास पर ज़रा ग़ौर करें : कवि और छवि, कवि और सौन्दर्य का सम्बन्ध भी सरल और इकहरा नहीं है; वह भी द्वन्द्वात्मक है; वहाँ भी संघर्ष है। और यह संघर्ष अन्तहीन (जीवन भर) है। यह व्यक्तित्व की बलि भी चाहता है (जीवन हर) और व्यक्तित्व को सार्थक भी बनाता है। 'जीवन भर' भी है।

कवि इस सर्जनाशक्ति को प्राणों की साधना भी कहता है। वह उसे एक साथ मूर्ति और संगीत में भी प्रत्यक्ष करता है :—"क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना / कवि ने निज मन भाव में गुना / साधना जगी थी केवल प्राणों की / देखा सामने मूर्ति छल-छल / नयनों में छलक रही अचपल / उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की।"

प्रकाश इसी सर्जनाशक्ति का प्रतीक है। इस कविता में प्रकाश के बिम्ब खूब आये हैं···"तम के अमार्ज्य रे तार-तार / जो उन पर पड़ी प्रकाश-धार।···"; "जगमग जीवन का अन्त्य भाष / जो दिया मुझे तुमने प्रकाश / अब रहा नहीं

लेवावकाश रहने का ।···लेना मैं जो वर जीवन भर बहने का···।" 'सरोज-स्मृति' की एक पंक्ति अनायास स्मरण आ जाती है—"अशब्द अधरों का सुना भाष / मैं कवि हूँ पाया है प्रकाश ।" इसके साथ ही इसी क्रम में हमें निराला की एक और बहुत ही सारगर्भित कविता याद आती है जो शुरू इस पंक्ति से होती है—"कहा जो न कहो / नित्य-नूतन प्राण अपने / गान रचरच दो ।" और जिसकी अन्तिम पंक्ति है : "मुक्ति हूँ मैं मृत्यु मे, आई हुई न डरो ।" हम पाते हैं कि ऐसी कई प्रतीतियाँ और अनुभूतियाँ 'तुलसीदास' में एकाग्र हो आयी हैं । निराला की दृष्टि में रत्नावली एक निमित्त मात्र नहीं है । वह एक वास्तविक प्रेरणा है रचने की; और तुलसीदास की यह कथा निराला की जीवनी से एक रसाविष्ट विह्वलता में तदाकार ही नहीं हो जाती, वह धीरे-धीरे उनके अन्तर्जीवन के मर्म को पकड़ती है । आत्मसाक्षात्कार की अनिवार्यता में उनके भीतर खुलती है । ध्यान देने की बात है—और हमारी समझ के लिए, निराला की हमारी समझ के लिए यह एक चुनौती है—कि 'सरोज-स्मृति' का "शृंगार रहा जो निराकार" किस पूर्णता के साथ, इस कविता में अभिव्यक्त हुआ है ! अन्तजीवन की वह रुद्ध संकुलता यहाँ पूरी तरह कविता में उन्मुक्त होकर कलारूप मे ढल गयी है । कलान्तरित हो गयी है । जीवनी कवि-व्यक्तित्व में कवि-व्यक्तित्व एक विशालतर व्यक्तित्व और संस्कृति में सन्दर्भित होकर अपनी सार्थकता, अपनी परिपूर्ति पा गये हैं ।

इसीलिए तो इस कविता का समापन हमें पूरी राहत देता है ।···"प्राची दिगंत-उर मे पुष्कल रवि-रेखा"···मात्र एक रीतिपूजा नहीं लगती । बल्कि कविता की एकमात्र संभव और उपयुक्त पूर्णाहुति लगती है । संध्या के जिस रूपक से कवि ने प्रारंभ किया था, वह यहाँ पूरा होता है अपने सारे अर्थों के साथ । और यह समापन तो एक नया आरम्भ है : मुक्ति के अनुभव के बाद की नयी शुरुआत । नया जन्म । आध्यात्मिक पुनर्जन्म भी इसे कह सकते हैं ।···"चल मंदवरण आए बाहर / उर मे परिचित वह मूर्ति सुघर / जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा /···" 'पैराडाइज़ लास्ट' के अन्त की याद आती है :—"दे हैण्ड इन हैण्ड विद वाण्डरिंग स्टैप्स एण्ड स्लो / थ्रू ईडन टुक देयर सॉलिटरी वे ।···" तुलसीदास भी अपने इस नये अभियान में अकेले हैं—आदम से कहीं ज्यादा निपट अकेले, पर यह अकेलापन खोये हुए स्वर्ग का विषाद नहीं लिये है । यह तो परम स्वीकार और आत्मनिर्णय का अकेलापन है । रत्नावली अब 'विश्वाश्रय' है । चित्रकूट में प्रिया का जो साक्षात्कार कवि ने किया था (अट्ठाईसवाँ छन्द) उसके साथ यह महाभिनिष्क्रमण जुड़ गया है अनायास । वह तन भी 'पुष्कल' था और यह रवि-रेखा भी 'पुष्कल' है । क्योंकि यह संन्यासी की अकेली मुक्ति नहीं, कवि की मुक्ति है । 'वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में तागी' है ।

[illegible] की यह रचना उनकी किसी भी अन्य रचना की अपेक्षा सूक्ष्म और कथ्य-अर्थ का जितना भार यह समेटे है, उतना ही साघन इसकी शैली [illegible] में है । वृत्तान्त के लिए, कथा के लिए इतना जटिल छन्द कोई नहीं

ा। फिर निराला ने ही इसे क्यो चुना होगा? जिसने इस कविता को एक बार
ीक-बूझ से पढ़ा है, वह क्या इसके किसी भी अन्य लयगति में सिरजे जाने की
ना कर सकता है? यह कैसी अनिवार्यता है? क्या यह महज कवि के शिल्प-
ल का प्रदर्शन है? निराला स्वयं ही एक जगह कह आये हैं, "जितनी बार चढे
मी तार / छन्द से तरह-तरह तिर / तुम्हें सुनाने को मैंने भी / नही कही कम
गाए"...निराला की दीर्घकालिक शब्द-साधना और भाव-साधना बराबर एक-
से होड़ लेती रही हैं। हिन्दी मे ऐसे कवि बस दो-चार ही हैं जिनके काव्य-विकास
क-सी स्पष्ट रेखाएँ हमारे अध्ययन के लिए सुलभ हो। निराला ने केवल कुछ
कविताएँ ही नही लिखीं। उन्होंने शब्द-साधना के नैरन्तर्य को, रूपतत्त्वात्मक
ंयों को भी लगातार समझा और समझाया। इस नाते भी उनका कृतित्व हम
 कवियों के लिए एक पाठशाला सरीखा है। ऐसे अनुभवी रूपदक्ष कवि के लिए
ढंगों इस स्तर पर अब प्रदर्शन की वस्तु नहीं रह जाती। वह बहुत पहले उनके
ः गुजरकर उबर चुका होता है और उन्हें उनकी सही जगह रख सकता है।
कलिका मे कवि रहा बन्द, वह आज उसी मे खुली मन्द"...सम्मोहन चाहे
प का हो, चाहे शब्दो के रूप-रंग का, कवि के विकास की प्रक्रिया यही है।
डूबना और भरपूर उबरना। रूपासक्ति से गुजरकर, रूप की थाह पा कर ही
लग्न' हुआ जा सकता है। और इस प्रक्रिया मे जीवन-तत्त्वो का अभाव या क्षति
 विछोह नही है, बल्कि रूपान्तरण है। आसक्तियों की एकाग्रता है। यह जीवन
जय नहीं, विजय है। इस प्रकार जीवन-तत्त्व और रचना-तत्त्व के सन्दर्भ मे
ारकार नारीत्व का, नारी-तत्त्व का इस कविता मे फलीभूत हुआ है, वही आधा-
ार रूप-तत्त्व का भी। एलियट ने कहा कि कविता व्यक्तित्व की अतिक्रान्ति है
र इस बात मे यह भी जोड़ा कि "मगर व्यक्तित्व को अतिक्रान्त करने की
भी उसी के साथ उठती है जिसने व्यक्तित्व की उद्दामता को जिया हो।"

जरा इस 'साधे लम्बी साँस सहज ही' छन्द पर गौर कीजिए। आपको 'आँसू'
का स्मरण होगा। बिहारी के दोहों के बाद, अगर कोई उदाहरण देना हो
य की सारगर्भ मुक्तकता का हिन्दी में, तो मैं 'आँसू' का नाम लूंगा। मगर
 दूसरे प्रयोजन और उद्देश्य को निगाह मे रखते हुए, क्या ऐसा नहीं लगता
ि यह मुक्तकता ही काव्यार्थ के संचरण मे, विकास-गति मे एक विघ्न बन
? क्या उस छन्द में भाव की अविच्छिन्नता को देर तक कायम रखने की
? क्या वह अपने गठन मे विकास की बजाय सँवार को ही ज्यादा आमन्त्रित
तीत नहीं होता? क्या वह एकरसता पैदा नहीं करता? कथा के प्रवाह को,
के उतार-चढ़ाव को, उनके सूक्ष्म परिवर्तनों को क्या वह बराबर एक-सी दक्षता
व के साथ निभा पाता है? क्यों 'कामायनी' में कवि ने हर सर्ग के साथ
ाल को अनुकूलित और समायोजित करने की चेष्टा की है?

ुलसीदास' का प्रत्येक छन्द नृत्य की एक भंगिमा, एक मुद्रा है और उसमें वह
स्वतःस्फूर्ति है कि बिना कहीं से टूटे, शिथिल पड़े अपनी मुद्रा में संक्रान्त

और विकसित हो जाए। साथ ही उसमें इतना अवकाश, इतना टिकाव-सधाव भी है कि उस एक विशिष्ट मुद्रा को उसकी सम्पूर्णता में वहन और मूर्त कर ले जाए। इतना चौकन्नापन और फिर भी इतना खुलापन…इतनी अधिक गत्वरता के साथ इतने अधिक संतुलन का निर्वाह…!

यह गत्वरता, यह संतुलन, यह सधी हुई आत्मविश्वासपूर्ण विकास-गति छन्दों के एक-दूसरे से जुड़ने में—उनकी परस्परता में ही नहीं, प्रत्येक छन्द की अपनी संरचना में भी स्पष्ट अनुभव की जा सकती है—

जिस तरह गंध से बँधा फूल
फैलता दूर तक भी समूल
अप्रतिम प्रिया से, त्यों दुकूल प्रतिमा में
मैं बँधा एक शुचि आलिंगन
आकृति में निराकार चुम्बन;
मुक्त भी मुक्त, ज्यों आजीवन लघिमा में

गति और यति का यह संतुलन क्या यों ही, अकारण ही है? पूरा छन्द मानो एक पात्र है जिसमें अर्थ भरता जाता है—छोटी-बड़ी, तेज-मन्द धारों में—जहाँ तक कि पात्र डबडबा न जाए। तुकों के विशेष न्यास को ही लीजिए। पूरे छंद के बँधाव में तीन बार तुकें बदलती हैं पर यह बदलाव एक झटके के साथ नहीं होता। दूसरी तुक को उठाने वाली (अर्थात् तीसरी) पंक्ति में भी पहली वाली तुक का प्रत्युत्तर और प्रतिध्वनि रची हुई है। और इस दूसरी (महत्त्वपूर्ण) तुक का उत्तर अन्तिम पंक्ति तक स्थगित रखा गया है। इस प्रकार छन्द के सारे अवयव, सारी पंक्तियाँ एक-दूसरे से कई स्तरों पर सम्बद्ध और घनिष्ठ हैं। तीसरी पंक्ति के अन्त का विराम छन्द को विभक्त नहीं कर देता: वह हमें फिर वापस उसी गति में ठेलकर भी अगली यति की प्रतीक्षा में पर्युत्सुक बनाए रखता है; और जब यह चक्र पूरा हो जाता है, तब यह अप्रत्याशित जुड़ाव, छन्द की द्विविध गतियों का यह एकाग्र घिराव हमारी उत्तेजना का शमन कर देता है।

हम कह सकते हैं कि नृत्य की तरह त्रि-आयामी तुकबन्ध वाली यह छन्द-योजना मानो इस पूरी कविता के ही त्रि-आयामी अर्थ और कथातत्त्व को ही झलकाती प्रतीत होती है। निराला की कथा, तुलसीदास की कथा और संस्कृति की—राम-रावण संघर्ष की—कथा। और जिस प्रकार कविता के संघटन में ये कथाएँ परस्पर संगुम्फित और अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार की नियमपूर्ण स्वतन्त्रता इस छन्द का भी स्वभाव है।

लय के साथ बिम्बों का भी जीवन्त ऐक्य इस कविता के अर्थ-संदर्भों में रचा हुआ है। कविता का विकास संध्या और प्राची के बीच होता है। अत: भारतीय काव्य के एक परिचित प्रतीक कमल का बिम्ब इसमें आद्योपान्त रचा हुआ है। इस बिम्ब का उपयोग एक सामान्यीकृत फूल के रूप में भी हुआ है—जैसे, इस अभी अभी उद्धृत किये गये छन्द में ही। विशिष्ट को साधारण करने वाला यह बिम्ब (छन्द)

तुलसीदास की उस मनःस्थिति का द्योतन करता है जिसमें वे एक ऐसे विचार को व्यक्त कर रहे हैं जो अपने-आप में अत्यन्त मार्मिक है किन्तु जिसे उन्होंने अभी सचमुच अर्जित नहीं किया है। क्योंकि यहाँ पर वे अपनी आसक्ति का औचित्य सिद्ध कर रहे हैं: अपने मोह पर आदर्श प्रेम की स्वतन्त्रता आरोपित कर रहे हैं। आध्यात्म-कमल को किसी भी फूल से मिला दे रहे हैं।

किन्तु कविता के कई मर्मस्थलों पर यह फूल का बिम्ब अपनी विशिष्ट व्यंजना के साथ उपस्थित है। पहला छन्द ही""है ऊर्मिल जल; निश्चलत्प्राण पर शतदल" ""इस बिम्ब को मुखर कर देता है। यहाँ इसका प्रयोजन देखिए और फिर सीधे अन्तिम समापक छन्द पर आ जाइए। क्या यहाँ तक आते-आते इस बिम्ब का भी वैसा ही रूपान्तरण नहीं हो जाता जैसा कि प्रारम्भ के तुलसी का अन्त तक आते हो गया है? दोनों ही स्थानों पर निराला का यह बिम्ब चरितनायक की आत्मस्थिति का और उससे लगी-लिपटी सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुस्थितियों का भी आइना है—

संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल
प्राची दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा

'कमला' शब्द के प्रयोग में जो अनिश्चितता और अनेकार्थव्यंजकता है वह यों ही नहीं है। गूढ़ होते हुए भी दूरारूढ़ वह नहीं है। कमला लक्ष्मी का नाम है किन्तु यहाँ वह 'सरस्वती' और 'उषा' की अर्थच्छवियाँ भी समेट लेता है (उषा सुनहले तीर बरसाती, जय लक्ष्मी-सी उदित हुई'—'प्रसाद')। रागात्मक ऐश्वर्य का कवि निराला सरस्वती और लक्ष्मी में कोई विरोध नहीं देखता; वह उन्हें एक कर देता है। और दूसरी ओर आध्यात्मिक सम्पन्नता और सर्जनात्मकता को भी कमल की ध्वन्यात्मक व्यंजना में एकाग्र कर देता है। प्रथम छन्द का 'ऊर्मिलजल' और 'निश्चल-त्प्राण शतदल'—यहाँ किस क़दर रूपान्तरित हो जाते हैं!

इस बिम्ब का एक और प्रयोग देखिए—प्रारम्भ में ही चित्रकूट यात्रा के दौरान तुलसीदास की मानसिकता के उद्घाटन-प्रसंग में : "जाते हो कहाँ तुले तिर्यक्/ दृग पहला कर ज्योतिर्मय सक् / प्रियतम को ज्यों बोले सम्यक् शासन में / फिर लिए मूँद वे पल पद्मल / इन्दीवर के से कोश विमल / फिर हुई अहन्त शक्ति पुष्कल उस तन से।" और इस 'मूँदने' का मर्म आखिर हुआ किस प्रकार अगले छन्द में पहुँच जाता है, इस पर गौर कीजिए : "उस ऊँचे नभ का गुंजन पर/मंजुल जीवन का मन-मधुकर / खुलती उस दृग-छवि में बँध कर सौरभ को / बैठा ही था सुख से क्षण-भर/ मूँद गए पत्रों के दल मधुकर / रह गया उसी उर के भीतर अक्षम हो।"

यह इस कविता का छप्पनवाँ छन्द है। अब देखिए, आगे चलकर कवि इसी बिम्ब को किस तरह प्रस्तुत करता है! किस तरह इसके अर्थ-सन्दर्भ को परिवर्तित और विस्तृत कर देता है—

वे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित

अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय
जिस कलिका में कवि रहा बन्द
वह आज उसी में खुली मन्द
भारती-रूप में सुरभि-छन्द निष्प्रश्रय

(छन्द सं० ९०)

वह पहले वाला छन्द इस छन्द में खुल जाता है। सिर्फ़ यही नहीं, कविता का प्रारम्भिक छन्द भी…। 'निश्चलत्प्राण शतदल' (क्योंकि तुलसीदास की आध्यात्मिक मूर्च्छा और सृजनहीनता का ही नहीं, अपितु तुलसी के देश-काल का, तुलसी के भारत की दुर्दशा का भी प्रतीक है) वह यहाँ 'भारती-रूप' में सुरभि छन्द बनकर खुल गया है। 'भारती' शब्द यहाँ कितनी सार्थक व्यंजना देता है! जैसा कि कहा गया था, इस कविता की एक वस्तु स्वयं कविता, स्वयं सर्जनात्मकता भी है जिसकी देवी सरस्वती है। उसे 'भारती' की संज्ञा देकर कवि उस सर्जनात्मकता को देश-काल से जोड़ रहा है: वह एक साथ सरस्वती को समसामयिक देश-काल में उतार भी रहा है और देश-काल को सरस्वती तक उठा भी रहा है। यानी कविता जिस तरह एक अनिवार्य गति से निराला और तुलसीदास के एकात्म्य की ओर अग्रसर होती है, उसी तरह 'निश्चलत्प्राण शतदल' वाले देश-काल तथा कवि के भीतर जागृत सर्जनात्मक प्रेरणा रूपी शतदल के 'सुरभि छन्द भारती-रूप' के एकात्म्य की ओर भी। इस विश्लेषण से स्पष्ट होगा कि हमने शुरुआत में ही इस कविता के अनेक-वृत्तीय संचरण की जो बात उठायी थी, वह अकारण नहीं थी।

कमल के फूल के अलावा इस कविता में पानी के बिम्ब भी प्रयुक्त हुए हैं। जलद, लहर, नदी-सागर इत्यादि के रूप में। वहाँ भी वही विकास दिखाई देता है। प्रारम्भ का 'जलद-जाल दुस्तर' अन्त में कटकर 'संकुचित खोलती श्वेत पटल बदली कमला तिरती सुख-जल' बन जाता है। इसी तरह प्रारम्भ में जहाँ हम पाते हैं "सोचता कहाँ रे किधर कूल / बहता तरंग का समुद्र फूल / यों इस प्रवाह में देश-मूल खो बहता…।" वहीं कविता के अन्त की ओर हम कवि को "प्रकाश-धार में जीवन-भर बहने को व्रत" ठानते देखते हैं। बहने की बात वहाँ भी है और यहाँ भी; किन्तु यहाँ उसके अर्थ में गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। एक ही शब्द नितान्त भिन्न व्यंजनाएँ देने में समर्थ हुआ है। शिल्प की यह सूक्ष्मता निराला के कवि का खास गुण है: हिन्दी की विशिष्ट व्यंजना-शक्ति की भरपूर टटोल उन्होंने की है, यह इसका प्रमाण है और ऐसे उदाहरण उनके यहाँ बहुतेरे मिलेंगे। पहले वाले उद्धरण में बिम्ब की विमयगत् स्थिति अधिक स्पष्ट है; दूसरे में वह अधिक प्रच्छन्न है किन्तु कम मर्मस्पर्शक नहीं। पहले वाले बिम्ब का जलप्रवाह फूल की चेतना को हरने वाला है। मगर आगे इसकी परिणति देखिए—

बाजी बहती लहरें कलकल
जागे भावाकुल शब्दोच्छल

जल-बिम्ब को देखिए और इसके बाद…

जागो जागो आया प्रभात
बीती वह बीती अंधरात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल

स्पष्ट ही, यहाँ जल-बिम्ब के भी अर्थ-सन्दर्भो का कुछ वैसा ही रूपान्तर घटित हो गया है जैसा कि उपरोक्त कमल-बिम्बों का। साथ ही यह भी गौरतलब है कि यहाँ आकर 'प्रकाश' (जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है) और जल के बिम्ब एक हो गये हैं। 'ज्योतिर्मय प्रपात' वही 'प्रकाश-धार' है।

जल का दूसरा बिम्ब वर्षा से सम्बद्ध है। निबन्ध के प्रारम्भ में ही जो छन्द हमने टाँका था, उस पर एकाग्र होने का समय आ गया। "हो गए आज जो खिन्न-खिन्न / छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न / यह अकल कला गह सकल छिन्न जोड़ेगी / रवि-कर ज्यों बिन्दु-बिन्दु जीवन / संचित कर करता है वर्षण / लहरा भव-पादप मर्षण-मन मोड़ेगी।"···जल को यहाँ जीवन कहा गया है। सूर्य प्रकाश का देवता है, और—हाँ,—कमल का भी। यों इस छन्द में तीनों बिम्ब एकाग्र और एक हो गये हैं : कमल, जल और प्रकाश के। और यह इस कविता का उच्चतम शिखर है क्योंकि यह छन्द इस कविता की सारी विषय-वस्तुओं को एक जगह एकाग्र कर देता है; न केवल विषय-वस्तुओं को, बल्कि अभिव्यक्ति-साधनों (बिम्बों-प्रतीकों) को भी। कहने को मन होता है कि यदि मुझसे कोई पूछे कि 'तुलसीदास' का अर्थ क्या है तो मैं यह छन्द उसके सामने पढ़ दूँगा—'यह अकल कला गह सकल छिन्न जोड़ेगी'···कवि कहता है और अपने कथन का प्रमाण भी मानो वहीं उन्हीं पंक्तियों में रच देता है। कवि ने यहाँ कवि की कला और सूर्य की कला को समीकृत कर दिया है। यह आकस्मिक नहीं, कि 'प्रकाश' शब्द निराला को इतना प्रिय है। यही तो वह तत्त्व है जिसमें वे विचरते हैं—'विहग के वे पंख बदले, किया जल का मीन' जैसे आत्मस्वीकार के बावजूद। यह पंक्ति तो प्रसाद के कविकर्म पर ज्यादा फबती है क्योंकि उनकी कल्पना जलचर है। निराला के लिए तो प्रकाश, सरस्वती का, रचनाशक्ति का ही दूसरा नाम है। इस छन्द में आप निराला की अद्वैत प्रतिमा के दर्शन कर सकते हैं : पदार्थ और ऊर्जा का, तत्त्व और स्वत्व का, कवि और रवि का, शक्ति और छवि का अद्वैत···। शमशेर की पंक्ति याद आती है—"शक्ति औ' छवि के मिलन का हास मंगलमय।" एक निराला ही ऐसा कवि है जो वेदान्त जैसे अ-काव्यसंभव दर्शन से भी कविता निचोड़ लेता है। एक निराला ही ऐसा कवि है जिसके खून में इतनी गर्मी, इतनी ऊर्जा है कि एक ओर संस्कृत शब्दों के अनमेल घटाटोप को भी पिघलाकर हिन्दी के संगीत में ढाल ले जाए और दूसरी ओर भारी-भारी दार्शनिक विचारों-भावनाओं को भी कविता के अपने लाघव में उड़ा दे।

८

भाषा की काव्यमुक्ति : निराला से धूमिल तक

भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। व्यक्तित्व की अनुभूति रोजमर्रा की अनुभूति है क्योंकि व्यक्तित्व की चेतना अहंचेतना ही है जिसके बिना आदमी जीवन में सफल नहीं हो सकता, समाज में अपने को जमा नहीं सकता। अस्तित्व की चेतना हममें मुश्किल से ही कभी जगती है क्योंकि वह हमारी प्रयोजन-पूर्ति में सहायक नहीं होती, उल्टे बाधक ही होती है। व्यक्तित्व की चेतना आदमी को आत्मविश्वासपूर्ण और आत्मतुष्ट बनाती है, जबकि अस्तित्व की चेतना का आरम्भ ही इस आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। व्यक्तित्व की अप-र्याप्तता या नगण्यता को विचलित करने वाला बोध ही हमें इस व्यक्तित्व की प्रामा-णिकता के प्रति शंकालु बनाता है—उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है : दूसरे शब्दों में, हमें व्यक्तित्व की नागरिक व्यवस्थाओं से खींचकर अस्तित्व के अराजक बीहड़ों में पटक देता है। "हाय पर मेरे कलपते प्राण, तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन-मान···" हम देख सकते हैं कि सभ्यता के अस्थिर युगों में यह प्रक्रिया, यह प्रश्नाकुलता अधिक तीव्र होती है।

कारण, जिन युगों में मनुष्य की संस्कृति और सभ्यता के बीच कोई पार्थक्य नहीं होता—संस्कृति के मूल्य ही सभ्यता के मूल्यों के रूप में स्वीकृत और सक्रिय होते हैं : व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं और प्रेरणाओं के बीच असामंजस्य कम-से-कम होता है—सर्वमान्य आस्थाएँ और विश्वास ही व्यक्तित्व की सन्दर्भ-पीठिका के रूप में सहज कारगर होते चलते हैं, उन युगों में मनुष्य की संस्कृति ही मनुष्य की सर्जनात्मकता के निर्बाध संचरण के लिए पर्याप्त होती है। अनुभूति का अन्तः-प्रमाण सहज होता है और भाषा भी उसे प्रतिरोध नहीं देती : भाषा के तत्वों, इकाइयों के बीच भी वही संगठन, वही स्पष्ट नियमपूर्ण संकेत-व्यवस्था कायम रहती

है, जैसी कि समाज के अवयवों के बीच। संस्कृति का सिद्ध गुरुत्वाकर्षण व्यक्ति की गति को कुण्ठित नहीं करता, बल्कि उसे एक धुरी प्रदान करता है और उसके साथ-साथ पूरी स्वतन्त्रता में चरितार्थ होने का विश्वास (या भ्रम) भी। इसके विपरीत जिन युगों में यह सन्दर्भ-पीठिका गड़बड़ा जाती है, संस्कृति के मूल्य सभ्यता को प्रेरित-संघटित करने की सामर्थ्य खो देते हैं, उन युगों में मूल्यों के विघटन के साथ-साथ मानवीय-सम्बन्धों का, स्वयं मानव-व्यक्ति का भी विघटन शुरू हो जाता है। लिहाजा शब्द भी अपनी धुरी छोड़ने लगते हैं—उनकी संयोजकता बदल जाती है। उनमें भी अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होने लगती है।

इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए, अर्थ के निश्चित अनुभव को फिर से प्राप्त करने के लिए 'अस्तित्व' के प्रति एक अतिरिक्त चिन्ता और चेतना विकसित की जाती है और इस प्रक्रिया में भाषा का अनुभव भी अधिकाधिक आन्तरिक होता जाता है। बासी और अर्थक्षीण शब्दों को उनकी अभ्यास-जड़ लीकों से हटाने के लिए कवि एक नई लय-तान में ढालता है : एक जटिल छन्द और वाक्य-विन्यास में नियोजित करता है उन्हें; ताकि इस नई लय-गति में, इस नए माहौल में उनकी सहजता वापस आ सके और उन पर लगी हुई काई भी कट सके। मसलन, क्या कारण है कि निराला की 'मरण-दृश्य' जैसी कविता हमारी संवेदना को एक नया और अप्रत्याशित आघात देती है? क्यों हमें एक अजब-सी स्वतन्त्रता का अनुभव होता है जैसे एकाएक हमारी अनुभव-क्षमता बढ़ गई हो—कवि ने भाषा के एक ऐसे मर्मस्थल को उद्घाटित कर दिया हो, एक ऐसा अवकाश शब्दों के भीतर खोल दिया हो जिसके लिए उस भाषा का हमारा सामान्य बोध और अनुभव हमें तैयार नहीं कर पाता, मानो काव्यरूढ़ भाषा पर कवि ने छापा मार दिया हो और उसकी मूर्च्छा भंग कर दी हो। पूरी कविता एक लम्बी सधी हुई साँस-सी लगती है—एक गहन 'अर्थ' का पीछा करती हुई, तमाम कोनों-अंतरों में से उसे ढूँढ़कर बाहर खुली हुई हवा में निकालकर ही दम लेती हुई। यहाँ तक कि, पिटे-पिटाए शब्द भी जीवित मौलिक हरकतों का स्वाद देने लगते हैं। शब्द और लय की यह मौलिक टकराहट और घनिष्ठता कोई महज छायावादी भावोद्गार नहीं है। गीत की रूढ़ि का संहार करके ही यह गीति-लाघव ऊपर उठता है।

> कहा जो न, कहो!
> नित्य-नूतन, प्राण, अपने
> गान रच-रच दो!
> विश्व सीमाहीन
> बाँधती जातीं मुझे कर-कर
> व्यथा से दीन!
> कह रही हो 'दुःख की निधि'
> यह तुम्हें ला दी नयी विधि
> विहग के वे पंख बदले—

विघटन से घबराकर पुनः संगठन माँगे। तब और अधिक क्रान्तिकारी संयोजन की जरूरत होगी। वाक्य और शब्दों के सम्बन्धों की आधारशिला नए सिरे से रखनी पड़ेगी। इस प्रकार की चेतना को हम अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों में देख सकते हैं। कुँवरनारायण के 'माध्यम' की 'असन्तुष्ट चेतना' का संकेत इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्मरण आ रहा है—

> एक असन्तुष्ट चेतना है जो आवेश में पागलों की तरह
> भाषा को वस्तु मान, तोड़-फोड़ कर
> अपने एकान्त में बिखरा लेती है
> और फिर किसी सिसकते बालक की तरह कातर हो
> भाषा के उन्हीं टुकड़ों को पुनः
> अपने स्खलित मन में समेटती है, सँजोती है
> और जीवन को किसी नए अर्थ में प्रतिष्ठित करती है

आगे इसी कविता में कवि कहता है—

> शब्दों से घनिष्टता बढ़ने दो
> कि उनकी एक अस्फुट महक तुम्हारे सौम्य को छू ले
> और तुम्हारी विशालता मेरे अदेय को समझे :
> स्वयं सिद्ध आनन्द के प्रौढ़ आलिंगन में
> समा जाए ऋचाओं की गूँज-सा आर्यलोक
> ....

यह 'अस्फुट महक शब्दों की' क्या है ? हमने ऊपर जो कहा कि कवि भाषा को मात्र अपने व्यक्तिपरक प्रयोजनों से नहीं, बल्कि अस्तित्वपरक स्मृति से पहचानता है। भाषा उसकी स्मृति है—अस्तित्वपरक स्मृति, जो कि उसकी व्यक्तिगत स्मृति से बड़ी है : उसकी संपूरक और सन्दर्भ-पीठिका है। कहने को संस्कृति भी यह काम करती है। किन्तु जैसा कि कहा गया, प्रत्येक युग संस्कृति का युग नहीं होता। संस्कृति का उत्कर्ष भी होता है और अपकर्ष भी। अपकर्ष और ह्रास के समय संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म या प्रतिमन्द हो जाता है। किन्तु वह एकदम नष्ट नहीं हो जाती। एक जीवन्त प्रभाव और नियामक शक्ति के रूप में वह तिरोहित हो जाती है अवश्य; किन्तु भाषा उसे जज्ब कर लेती है। भाषा में वह अन्तःसलिल हो जाती है। तब उसके तत्त्वों तक पहुँचना अत्यधिक दुष्कर हो उठता है। ऐसे समयों में कवि का कार्य अपेक्षाकृत अधिक जटिल हो जाता है। संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति मानो उसे भाषा से करनी पड़ती है : एक सूक्ष्म मार्मिक संवेदना विकसित करनी पड़ती है। उसी अस्तित्ववादी अनिवार्यता और पर्युत्सुकता के साथ भाषा से—भाषा की जड़ों से—उसके अन्तःसलिल स्रोतों से जूझना पड़ता है, जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। कवि की हैसियत से यह उसके अस्तित्व की ही खोज की बुनियादी समस्या है : व्यक्तित्व की खोज से भी ज्यादा।

हमारी कविता में जब व्यक्तित्व की खोज की आवाज़ बुलन्द की गई थी, त वह सार्थक और अपने समय की सचाइयों में अनिवार्यतः सन्दर्भित थी। संस्का और संवेदना की कशमकश को वह सही ढंग से रेखांकित करती थी। यह कशमक तब रचना की एक सार्थक और प्रमुख प्रेरणा थी। रचनात्मक जिजीविषा, तब, ऐस लगा था कि इतनी धारदार और पैनी भारतीय लेखक में पहली बार पैदा हो रही है तब जैसे एकाएक यह अहसास बड़ी तीव्रता के साथ उभरा था कि हमारी अपनी संस्कार-प्राप्त भाषा ने (और जीवन-प्रणालियों ने) कभी हमें अपने व्यक्ति-मन की ऐसी आत्मीय पहचान नहीं कराई। हमें,—हमारे कवियों और कथाकारों को—लग था कि कदाचित् हमारी परम्परा में व्यक्ति की उस विलक्षणता का वैसा आदर नहीं हो पाया जैसा कि होना चाहिए था। या कि हमारे संस्कारगत मन और अस्तित्व में ही कुछ ऐसा जड़ीभूत है जो कि कलात्मक स्वभाव को, सर्जनात्मक व्यक्तित्व को कुण्ठित करता है—उसे वास्तव में स्वतंत्र और स्वचेतन होने देने से पहले ही अपने भीतर खपा लेता है। स्वाभाविक ही, हमारी कविता की लड़ाई इस खपा लिए जाने से थी। यही उसके विद्रोह और सार्थक विद्रोह की दिशा थी। ऐसा नहीं कि पूर्ववर्ती कवियों में यह कशमकश बिलकुल ही न रही हो : निराला का विद्रोही व्यक्तित्व तब हमारे कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत था। उनके कृतित्व का भी वही अंश हमारे लिए सार्थक और प्रेरणाप्रद था जो इस हमारी 'विद्रोही व्यक्तित्व' वाली माँग को पुष्ट और पूर्त्त करता था (बल्कि जो इसमें नहीं अँटता था, उसे भी हम इससे अनुकूलित करके ही देखते थे; और जो बहुत ज़्यादा भाड़ा पड़ा, उसे उनकी मानसिक रुग्णता का प्रतिबिम्ब कहकर हल कर देते थे)। रहे बाबू जयशंकर प्रसाद, सो अपने तमाम 'ऐतिहासिक बोध' के बावजूद—जिसकी दाद हमें मजबूरन देनी ही पड़ती थी—वे और उनका कृतित्व हमें भारतीय पुनर्जागरण की करामात से उत्पन्न आत्मतुष्टियों का एक ऐसा विशाल दूह प्रतीत होते थे, जिनसे टकराने की कोशिश करने का मतलब था उस धार को ही कुन्द कर लेना, जिसके बल पर हम तत्कालीन रचना की लड़ाई लड़ रहे थे। हमारी संवेदना तब संस्कारों की सदियों पुरानी जकड़ से छूटने के लिए प्रयत्नशील थी और प्रसाद का प्रयत्न हमें इसके ठीक विपरीत लगता था। मैथ्यू आर्नाल्ड की मृत्यु पर किसी ने कहा था कि "देयर गोज़ अवर लास्ट ग्रीक…" ज़्यादा-से-ज़्यादा हम भी उस वक़्त यही कह सकते थे कि "देयर गोज़ अवर लास्ट इण्डियन…" और छुट्टी पा सकते थे। अपने संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों में पूरी तरह स्थापित और मगन वह बरगद हमें उस वक़्त दे ही क्या सकता था…।

एक और बात भी थी जिसको सही-सही और साफ़-साफ़ पकड़ना ज़रूरी लगता है, चाहे हमारे औज़ार कितने मोटे और भद्दे लगें। वह बात है पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व की…उसकी क्रमशः गहराती चेतना की, जो कि आज हमारी सर्जनात्मकता में संस्कार रूप से बद्धमूल है (इतनी, कि अब हमारी संवेदना उससे भी मुक्त होने को छटपटा रही है); किन्तु उस वक़्त, यानी छायावाद के ज़माने में वह नई चीज़ थी—बल्कि सर्जनात्मक होने की शर्त जैसी बन गई थी। वर्षों बा गई

थी ? क्या वह ऐतिहासिक अनिवार्यता थी ? क्या वह सिर्फ एक ज्यादा प्रतिभाशाली—किन्तु कम भारतीय, अधिक पश्चिमी ढंग में ढले हुए व्यक्ति के साहित्यिक (और, हाँ, राजनीतिक) नेतृत्व के शुद्ध संयोग का परिणाम था ? क्या कारण है कि हममें से कई लोग (जिनमें उस दौर के लेखक भी शामिल हैं) इस पूरे विकास-क्रम का, इस पूरे दौर का प्रायश्चित पढ़ने की मुद्रा में आ गए हैं ? क्या यह मोहभंग सही और सार्थक है और क्या यह समकालीन रचनात्मकता को सही दिशा में ले जाने का उपक्रम है ?

एक औसत हिन्दुस्तानी की तरह हम भी जरा इन प्रश्नों से पलायन करके कुछ बुनियादी दर्शन बघार लें। सर्जनात्मकता क्या है, यह जब हम सोचते हैं तो क्या हम भारतीय या हिन्दू दृष्टि से सोचते हैं ? क्या हमारी इसकी अवधारणा पश्चिमी ढंग की नहीं होती ? आलोचना सर्जनात्मकता का चिन्तन है और उसके साथ-साथ चिन्तन की सर्जनात्मकता भी। और देशों के इतिहास हमें यही सबक देते हैं कि कोई भी जाति तभी तक जीवित रह सकती है, कोई भी संस्कृति तभी तक सक्रिय रह सकती है जब तक वह गतिशील रहे : यह गतिशील होना सर्जनात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की सक्रियताओं से संभव हो सकता है। हमारे देश का इतिहास क्या कहता है ? क्या ये दोनों प्रकार की सक्रियताएँ हमारे यहाँ मौजूद रहीं ? हम देखते हैं कि इस धार्मिक संस्कृति में जब तक आलोचना का खुलापन मौजूद रहा, तब तक सर्जनात्मकता भी काफी सक्रिय रही। उसके अवरुद्ध हो जाने के साथ-साथ वह भी अवरुद्ध हो गई। एक पूरी-की-पूरी सभ्यता गरुड से कच्छप की योनि में चली गई। तब आए संत कवि, जिन्होंने धार्मिक दृष्टि का पुनर्मूल्यांकन किया और उसमें सामाजिक विवेक-चेतना को भी जोड़ा। इस मौलिक और स्वाभाविक आलोचना ने भारतीय जनता के भीतर की काफी-कुछ अवरुद्ध कविता को बाहर निकाला और इस प्रकार उसकी अवरुद्ध सर्जनात्मकता का एक जोरदार विस्फोट संभव बनाया। क्योंकि संत कवियों का दर्शन कविता-संभव दर्शन था। होने को उनसे पहले शंकराचार्य के रूप में हिन्दू बौद्धिकता का एक जबर्दस्त विस्फोट हो चुका था किन्तु उसमें उतनी ही बलवान कविता को प्रेरित करने की ताकत क्यों नहीं थी, जबकि शंकराचार्य स्वयं कवि थे ?

संतों ने रूढ़ियों को तोड़ा नहीं, उन्हें थोड़ा लचीला अवश्य बना दिया। रूढ़ियाँ तो आत्म-संरक्षण का अनिवार्य तर्क बनी हुई थीं; उन्हें वे कैसे तोड़ते ? उन्होंने केवल ब्राह्मण-संस्कृति की प्रकाण्ड बौद्धिक उपलब्धियों का भावना-कल्प करके सर्वहारा-संस्कृति की चीज बना दिया और 'सनातन धर्म' का ऐसा मार्ग निकाला कि जिसमें बौद्ध और सूफीमत के योगदान का भी सहज समावेश हो गया। इस सारे आन्दोलन ने जनजीवन के भीतर से उस व्यापक भावनात्मक विस्फोट को जन्म दिया जिसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति कविता में हुई। संतों की आलोचना ने जिन जगहों को नहीं छुआ वे सर्जनात्मकता से शून्य रहीं; और बाद में सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की बढ़ती हुई जकड़न के साथ उन रूढ़ियों की गिरफ्त भी बढ़ती गई

ग्रौर सदियों तक कोई भी मौलिक विचारक नहीं हुग्रा। फलतः सर्जनात्मकता फिर ग्रवरुद्ध हो गई। इस प्रकार भारतवर्ष के जीवन में सर्जनात्मकता ग्रौर ग्रालोचना का नैरन्तर्य नहीं रहा। फिर भी जाति की जीवनी-शक्ति क़ायम रही, कुण्ठित नहीं हुई ग्रौर इतिहास की एक जीवित शक्ति ग्रौर जीवित माया से टकराते ही फिर से पुनर्जागरण की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ गई। वह क्या था जिसने हमें जीवित रखा—संस्कृति के स्तर पर भी ग्रौर सभ्यता के स्तर पर भी ? यह ग्रतीतोन्मुख या पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति से नितान्त भिन्न प्रवृत्ति का लक्षण है कि ग्रादमी विरोधी प्रवाह तक को पचाकर, उसे ग्रात्मसात् करके ग्रागे बढ़ जाय। यह परिणाम होता है कहीं भीतर बहुत गहरे केन्द्र में एक जबर्दस्त खुलेपन ग्रौर नमनीयता का।... रूढ़ियाँ भी सारी जैसे इस बेहद नाज़ुक (वल्नरेबल) ग्रौर ख़तरनाक खुलेपन की रक्षा के लिए ही कवच की तरह जुटती गई हों। ग्राज हम सर्जनात्मकता को 'संघर्ष' की ही शब्दावली में समझते ग्रौर ग्रनुभव करते हैं ग्रौर यह सर्वथा स्वाभाविक ग्रौर ग्रनिवार्य भी है। किन्तु इस दृष्टि से देखा जाय तो इस पश्चिमी ग्रर्थ में भारतीयता सर्जनात्मक है ही नहीं। क्योंकि वह चाहे ग्रौर जो कुछ हो, संघर्षमूलक तो निश्चय ही नहीं है। संघर्ष होता है व्यक्तित्व में; जन्मान्तरवाद में नहीं। संघर्ष होता है इतिहास में; महाकाल में संघर्ष कैसा ? भारतीय प्रतिभा का वैशिष्ट्य ग्रौर विजय इस बात में है कि उसने काल के ग्रायाम को ग्रतिक्रान्त करने का मार्ग ढूँढ निकाला, इतिहास के प्रति भी एक ग्रनैतिहासिक ग्रौर कालातीत दृष्टि ग्रख्तियार की ग्रौर न केवल ग्रख्तियार की, बल्कि यह दृष्टि सचमुच इतिहास पर हावी हो गई। मुझे जाने क्यों ऐसा लगता है कि सर्वमान्य ग्रास्थाग्रों में ढलने ग्रौर सूत्रबद्ध होने के पूर्व इस सबके पीछे एक लम्बी परम्परा 'ग्रस्तित्व' ग्रौर शुद्ध ग्रस्तित्व के चिन्तन की रही होगी। उसके परिणाम ही हमारे सामने बच रहे हैं; प्रक्रिया सामने नहीं है। ग्राज, जब हम इतनी दूर निकल ग्राए हैं ग्रौर उस ग्रत्यन्त लचीले ग्रौर सूक्ष्म वेदनतंत्र को खो चुके हैं, क्या कभी हमारे सामूहिक ग्रवचेतन के भीतर से उस मौलिक प्रक्रिया का पुनर्जन्म संभव होगा ? इतिहास की एक लम्बी जड़ता में हमने व्यक्तित्व की सर्जनात्मकता खो दी थी। इसलिए यह ग्रनिवार्य था कि हम पश्चिम से जुड़ते ग्रौर संघर्षित होते जिसमें कि सभ्यता का ग्राधार ही उस प्रकार की सर्जनात्मकता थी। हमें तत्पर करने के लिए यह नितान्त ग्रावश्यक थी ग्रौर एक ज़बर्दस्त चुनौती की तरह हमने उसका ग्रंगीकार भी किया था। बिना उससे टकराए हम ग्रपनी सर्जनात्मकता का ग्रनुभव नहीं कर सकते थे। न ग्रपने वाङ्मय में उसकी खोज के लिए प्रेरित हो सकते थे। इसलिए व्यक्तित्व की खोज का नाश उस शुद्ध ग्रस्तित्व की खोज वाली, संघर्ष को शमित करने वाली, विसर्जनशील सर्जनात्मकता से (जिसे हमने भारतीय सर्जनात्मकता कहा) वास्तव में जुड़ने के लिए, उसे महसूस ग्रौर सक्रिय कर पाने के लिए ग्रनिवार्य था। हम केवल उसे स्वीकार करते ग्राए थे, उसमें जग ... रहे थे बिना उसे ग्रर्जित किए; ग्रौर इस प्रकार हमने सदियों से ग्रपनी ... ग्रौर सर्जनात्मकता ही स्थगित कर रखी थी। व्यक्तित्व ग्रौर ग्रस्तित्व के, ग्रात्म ग्रौर

मनात्म के, जिस गहरे मन्थन में से, शुद्ध अस्तित्व के स्तर पर, मानवीय जीवन के मर्मान्वेषण की वह प्रक्रिया चलती रही होगी जिसकी परिणति इस दृष्टि और दर्शन में हुई, इसका जीवन्त अहसास तो हमारा कभी का कुन्द हो गया था। हमने उसे दर्शन के रूप में स्वीकार किया किन्तु सर्जनात्मक शक्ति के रूप में खो दिया। इसलिए वह हमारे जीवन्त लौकिक—व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व के—संघर्ष की सन्दर्भपीठिका न बनकर सारे संघर्षों का पर्यवसान करने वाली और संघर्ष को—अस्तित्व के अनुभव को ही—जड़ से खत्म कर देने वाली चीज बन गया। दूसरे शब्दों में, जिस प्रश्नाकुलता में से वह चीज निकली थी और जिस प्रश्नाकुलता के बल पर ही वह जीवित और सर्जनात्मक बनी रहकर हमारी जीवनी-शक्ति का उपयोग कला और साहित्य और चिन्तन के लिए करती रह सकती थी, वह प्रश्नाकुलता ही हमारी समाप्त हो गई। समाप्त कर दी उसी ने। यह विरोधाभास क्या हमारी—हमारे सामूहिक अस्तित्व की—एक बड़ी विडम्बना नहीं?

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भक्त, बंगाल के एक अंग्रेजी के प्रोफेसर, सुना, महाकवि येट्स से मिलने गए और पूछा कि भारत के लिए आपका क्या संदेश है? सुनते हैं, येट्स ने अजीब अधीरता से झल्लाकर कहा, 'कॉनफ्लिक्ट! मोर कॉनफ्लिक्ट'···और इतना ही कहकर चुप हो गए। येट्स की यह प्रतिक्रिया स्वयं उन्हीं की कविता के विकास-क्रम में सटीक थी। इसलिए उसकी प्रासंगिकता को समझा जा सकता है। उनकी सबसे परिपक्व कविता—मोटे तौर पर कहा जाय तो—उन्हीं दो प्रकार की सर्जनात्मकताओं के संघर्ष की कविता है जिनका जिक्र हमने ऊपर किया। वे इस (भारतीय) तत्त्वचिन्तापरक सर्जनात्मकता के प्रति भी उतनी ही उत्कटता से उन्मुख थे, जितने कि उस संघर्षमूलक, व्यक्तित्वप्रेरित सर्जनात्मकता के प्रति, जो कि उनके यहाँ की परम्परा थी। और उन्होंने अपने अनुभव से पहचाना था कि बिना इस दूसरी चीज के पहली चीज सार्थक नहीं हो सकती, उस कविता को जन्म नहीं दे सकती जो आदमी की समूची जीवनी-शक्ति को चरितार्थ कर सके।

हमारे एक समकालीन कवि ने अपनी एक कविता में लिखा है—"इस वक्त जबकि कविता माँगती है / समूचा आदमी अपनी खुराक के लिए।" यदि आज के कवि का यह कथन सचमुच अपने परिवेश और इतिहास के भाव में से, संस्कार और संवेदना की असमर्थता की पिछली सारी रचनात्मक परम्परा के निजी बोध और टटोल का परिणाम है तो यह निश्चय ही आत्म-साक्षात्कार की ईमानदारी है। और इस नाते सार्थक है। वर्ना यह तो, जैसा कि इन सारी बातों से स्पष्ट है, भारतीय कवि की हमेशा की समस्या रही है, कोई इस वक्त या उस वक्त की नहीं। किसी ने, शायद एलियट ने ही, येट्स के कृतित्व की मीमांसा करते हुए लिखा था कि "मेच्योरिटी एज़ ए पोएट मीन्स मेच्योरिटी एज़ ए होल मैन।" अर्थात् कवि की हैसियत से परिपक्व होने का मतलब है समूचे आदमी की हैसियत से परिपक्व होना। आज के हिन्दी कवि की भाषा में इसका अनुवाद करें तो यहीं न कहेंगे कि कविता अपनी खुराक के लिए एक समूचा आदमी माँगती है!

अगर यह सब महज लफ्फाज़ी नहीं है—जैसाकि डर भारतीयता-मात्र की किसी भी प्रकार की चिन्ता और चर्चा के साथ बना ही रहता है—तो इस संक्षिप्त से विश्लेषण में से निकलकर अब हम उन प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढ़ने की स्थिति में हैं, बल्कि इस विश्लेषण में उनके उत्तर निहित हैं। पूर्व और पश्चिम के द्वन्द्व का जो गहरा आन्तरिकीकरण छायावाद के बाद की सर्जनात्मकता की शर्त बन गया था, वह ऐतिहासिक अनिवार्यता ही थी। ठीक उसी तरह, जिस तरह कि, गांधीजी के रूप में मध्ययुगीन संतों की—भावना के स्तर पर कार्यशील, किन्तु विराट् जन-समुदाय को भीतर से हललाने वाली—महान् क्रान्तिकारी भूमिका का पुनः-विस्फोट एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। दोनों का साथ-साथ चलना आवश्यक था। तभी एक साथ नीचे से और ऊपर से वह क्रान्ति सम्भव होती जो हमें मौलिक रूप से आधुनिक बनाती और हमारे खास अपने सर्जनात्मक स्वभाव में हमें पूरे आत्मविश्वास के साथ स्थापित करती। तब हम गांधी और अरविंद दोनों की सर्जनात्मक संभावनाओं का साक्षात्कार कर सकते थे। क्योंकि तब हम उन्हें अपने व्यक्तित्व की अस्थिर माँगों और जरूरतों के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि अपने जातीय अस्तित्व की ही एक आधारभूत परिभाषा के रूप में देखते। दूसरे शब्दों में, उन्हें अपनी सर्जनात्मक आवश्यकताओं से जोड़कर देखते। येट्स के स्मरण से एक बात मन में कौंधी थी कि आखिर क्या बात है कि हिन्दी (और शायद हर भारतीय) कवि उम्र में ज्यों-ज्यों सयाना होता है, उसकी कविता उतनी ही निस्तेज होती जाती है? पंतजी क्या अरविंद का सर्जनात्मक उपयोग कर सके? कैसे करते? उन्होंने भी उसका वही उपयोग किया जो नया-पुराना हर भारतीय लेखक भारतीय दर्शन का करता आया है। बिना संघर्ष के समाधान, बिना रचना के मुक्ति। यह आरोप हम निराला पर नहीं लगा सकते। उनकी कविता का वेदांत कमाया गया वेदान्त है। वह विवेकानन्द के विचारों का अनुवाद नहीं, बल्कि भावावेगात्मक समतुल्य है। उनकी कविता, उस चिंतन की सर्जनात्मकता के समानान्तर और समकक्ष कविता है। विवेकानन्द काफी प्रचण्ड आवेशों के आदमी थे। एक ही रौ में वे जहाँ पूरे हिन्दुस्तान के ब्राह्मणीकरण का स्वप्न देखते थे (अर्थात् भारतीय तत्त्वचिन्तन के उस बौद्धिक-भावनात्मक आभिजात्य के देश की समूची प्रजा के हर स्तर में भिद-जाने, रच जाने की; विशिष्ट सर्जनात्मक उत्साह के रूप में सक्रिय हो जाने की बात करते थे), वहीं मार्क्स के चिन्तन का भारतीयकरण करते हुए यह उद्गार भी व्यक्त करते थे कि इतिहास की सारी ताक़त शूद्रों के पक्ष में है। बहुत जल्दी सारे संसार में शूद्रों का प्रभुत्व होगा, शूद्र सभ्यता ही आगे की सभ्यता होगी। विवेकानन्द काफी हद तक परम्परावादी भी थे और अपने तरीके से उसकी व्याख्या और आलोचना करते हुए भी वे उसका वैसा प्रखर पुनर्मूल्यांकन नहीं कर पाए थे जैसा कि अभीष्ट था। किन्तु जितना उन्होंने किया, वह कम नहीं था सही दिशा की खोज के लिए। आलोचना और पुनर्मूल्यांकन एक हजार वर्ष से नहीं हुआ था तो एकाएक वह चमत्कार अब कैसे घटित हो जाता? बाद वालों के लिए भी तो कुछ बचना था करने को। आखिर

उन्होंने क्या किया ?

निराला के काव्य में हमें इस दुहरी सर्जनात्मकता के संकेत मिलते हैं। भाषा में, भाषिक संवेदना में भी उनके यहाँ यह दोहरा रचाव है। एक ओर उनमें संस्कृत के आभिजात्य के प्रति जबर्दस्त आकर्षण दिखाई देता है और दूसरी ओर उनकी भाषा में वह तत्त्व भी चरितार्थ हुआ है जिसे नामवरजी हिन्दी की सात्विक कठोरता या विद्रोही परम्परा कहते हैं। ये दोनों तत्त्व उनकी कविता में एक अत्यन्त सार्थक सर्जनात्मक रिश्ते में जुड़े हुए हैं। फिर चाहे आप उसे तनाव के रूप में देखें, चाहे सहयोग के रूप में।

प्रसाद उस तरह विद्रोही चेतना के कवि नहीं हैं। उनके यहाँ ऐसा लगता है जैसे संघर्ष का अर्थ चित्तवृत्तियों का संघर्ष है। दूसरी ओर उनमें प्रचण्ड बौद्धिकता, व्यंग्य-क्षमता और वो चीज है जिसे हम केवल 'विज्डम' कह सकते हैं। उनकी कविता का सौन्दर्य पश्चिमी काव्यशास्त्र को ललकारता प्रतीत होता है। हमें लगता है कि हमारे संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों के भीतर इतनी गहरी पहुँच और किसी कवि की नहीं है। यही उनके प्रति हमारे आकर्षण का रहस्य मुझे जान पड़ता है और शायद यही हमें उनसे बिदकाता भी है। कामायनी वह पहाड़ है जिस पर चढ़कर हम उस दृश्य का कुछ आभास पा सकते हैं जिसे हम भारतीय सर्जनात्मकता कह रहे हैं और उसके साथ अपने अस्तित्वगत रिश्ते का कुछ अनुमान कर सकते हैं। तभी उनकी प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता समझ में आ सकती है। हो सकता है कल की आने वाली पीढ़ियाँ उनकी भी यही दुर्दशा करें जो उन्होंने कालिदास की की थी स्कन्दगुप्त में। क्या वह कालिदास का पुनर्मूल्यांकन है ? यह तो तय है कि प्रसादजी जान-बूझकर शरारतन मातृगुप्त को नाटक में घसीट लाए हैं। तो क्या स्कन्दगुप्त के हाहाकार ने उनकी संवेदना को इस तरह विक्षिप्त कर दिया था कि उसका बदला उन्होंने उस काल की सभ्यता के सबसे प्रतिनिधि कवि से ले मारा ? जो काम प्रसादजी अपने युग में कर रहे थे, क्या वही काम कालिदास भी अपने युग में नहीं कर रहे थे ? जिस तरह कालिदास ने पुराण के रघुवंश को समसामयिक इतिहास के बीचोंबीच सिरजा था, क्या उसी प्रकार प्रसादजी ने भी मनु के पौराणिक सत्य से मनुष्य के समकालीन इतिहास को आलोकित करने की कोशिश नहीं की थी ? या कि फिर प्रसादजी का व्यंग्य मात्र उस कालिदास पर है जिसने अभी 'रघुवंश' की प्रौढ़ता अर्जित नहीं की थी ?

बहरहाल, हम निराला की बात कर रहे थे। निराला एक तरफ़ संस्कृत की गरिमा से, उसके 'दैवी-वाक्'-पन से अभिभूत थे: 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में हिन्दी ने अपनी एक सर्वथा नयी क्षमता के दर्शन किए थे; निराला से ज्यादा किस हिन्दी कवि ने संस्कृत के वाक्-तत्त्व को, संस्कृत के संगीत को हिन्दी की सात्विक-कठोरता में इस कदर घुलाया और पचाया है ? "और वही दूसरी ओर यह भी निराला ही थे जो—धूमिल की कविता का उद्धरण देते हुए कहूँ—"अपना चमरौधा कविता में उतार गए"। भाषा की काव्यमुक्ति क्यों होती है और कैसे होती है, यह हम निराला से सीख सकते हैं। इस प्रक्रिया को समझने के लिए ही लेख के प्रारम्भ में व्यक्तित्व

और अस्तित्व के संघर्ष की बात उठाई गई थी। हमने यह भी कहा था कि सांस्कृतिक संकट और अस्थिरता के युगों में संस्कृति की सन्दर्भ-पीठिका की क्षतिपूर्ति कवि को भाषा से करनी पड़ती है : उसी अस्तित्व-प्रेरित अनिवार्यता के साथ भाषा की जड़ों से झूमना पड़ता है जिस तरह कि व्यक्तित्व और समाज के विघटन की चुनौतियों से। शायद ऊपर की बातों से हमारा आशय कुछ और स्पष्ट हो सका हो। निराला भाषा की इस काव्यमुक्ति की समस्या के प्रति कितने सचेत थे, इसका भी कुछ संकेत उभारने की कोशिश यहाँ की गई है। प्रसाद के योगदान का स्वरूप क्या है, इसका भी कुछ अनुमान हो गया होगा। हालाँकि वह अलग विश्लेषण माँगता है। अज्ञेय भी अपने प्रौढ़ काव्य में प्रसाद की तरह भाषा को सांस्कृतिक संजीवनी से पुष्ट करके उनमें अपना उन्मोचन ढूंढते हैं। उनकी पहली समस्या यही थी कि व्यक्तित्व को प्रतिरोध देने वाली भाषा की आत्मीयता कैसे सिद्ध की जाय। उनकी चेतना आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जटिलताओं से टकराकर अधिक गहन हो गई थी। अतः उसकी काव्यमुक्ति भी प्रसाद या निराला और उनके युग के कवि की तुलना में अधिक कठिन थी। जो रास्ते निराला और प्रसाद ने निकाले थे, उन पर चलकर वे अधिक दूर जा भी नहीं सकते थे क्योंकि दूसरी चुनौतियाँ भी सामने थीं। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि वे अपने साहित्य और भाषा के अतिरिक्त एक ऐसी भाषा और साहित्य की ओर मुड़ते, जिसकी परम्परा अधिक संघर्षमूलक, अधिक आधुनिक हो। अंग्रेजी और उसके माध्यम से यूरोपीय साहित्य ने उन्हें यह आवश्यक टकराव दिया। चेतना के इस आवश्यक संस्कार ने उन्हें धीरे-धीरे अपनी सांस्कृतिक जड़ों के भी निकटतर साक्षात्कार की ओर प्रेरित किया। इतना जरूर लक्ष्य किया जा सकता है कि अज्ञेय की काव्यभाषा में निराला की तुलना में लोच और स्वतन्त्रता का गुण कम है। हिन्दी की व्यंजना-शक्ति का, वैविध्य का जैसा अहसास निराला की कविता के साथ होता है वैसा अज्ञेय के साथ नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि अज्ञेय हिन्दी कविता को ग़लत दिशा में ले गए। दिशा वह सही थी। 'कामायनी' में एक समूची युग-चेतना के क्रिस्टलाइज हो चुकने पर हिन्दी कविता के लिए नए प्रस्थान की, सार्थक विद्रोह की, दिशा वही हो सकती थी। सवाल असल में यह है कि क्या वह सार्थक विद्रोह की दिशा पूरी तरह चुक चुकी है ? क्या फिर से नए प्रस्थान, नए विद्रोह की भूमिका बन चुकी है ? इस प्रश्न का उत्तर इतना आसान नहीं है, जितना लगता है। एक तरफ हमें यह लगता है कि सार्थक अस्तित्व की तलाश में नयी कविता को जितनी दूर जा सकना चाहिए था, उतनी दूर तक वह नहीं गई : अज्ञेय और कुँवरनारायण के प्रारम्भिक कृतित्व में व्यक्तित्व और अस्तित्व के संघर्ष की भारतीय सन्दर्भ में जो तगड़ी पहचान उभरी थी, वह धीरे-धीरे धुंधली होती गई है। 'आँगन के पार द्वार' और 'आत्मजयी' में ही जैसे इस संघर्ष का क्षेत्र संकुचित होते हुए हम देखते हैं। और हमें सन्देह होता है कि ये कवि परम्परा और परिवेश की छानबीन से, पूरी टकराहट की चुनौतियों से, आत्मिक पलायन करके, व्यापक अस्तित्व के बजाय अपने 'व्यक्तित्व' का मोक्ष ढूंढने लगे हैं। हमें लगा कि यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की परिणति है जैसी कि

यावादियो की थी : विद्रोह और समूची संदर्भ-पीठिका की तलाश की प्रतिज्ञाएँ
थिल पड़ रही हैं और जिस परम्परा मे खप जाने के विरुद्ध इनकी लड़ाई थी, ये
ततः उसी मे आग्रहपूर्वक खपे जा रहे हैं। इस प्रकार हमें लगा कि इस पूरे अभि-
न में कुछ 'ब्लाइन्ड स्पॉट्स' रहे होंगे। शीघ्र ही नयी कविता के भीतर से ही इसकी
तिक्रिया होने लगी। मोटे तौर पर यों भी कह सकते हैं कि उस काव्य-द्रोही अध्यात्म
विरुद्ध कारंवाई होने लगी जो हमारे कवियो के आत्मसंघर्ष को विसर्जित करके
ने भीतर खपा लेता है। लक्ष्मीकांत वर्मा और रघुवीरसहाय जैसे कवि इस सन्दर्भ
ल्लेखनीय हैं।

क्या कारण है कि हमारी पीढ़ी को इनकी भाषा भी भरोसे की नहीं लगी और
कमल चौधरी की लगी ? क्या राजकमल चौधरी की कविता का विद्रोह अधिक
नात्मक है ? क्या उनकी कविता मे भारतीय समाज और भारतीय व्यक्ति की
ौर अधिक प्रामाणिक है बनिस्बत इन कवियो के ? क्या नयी कविता के कवि
ाशय' और 'मौनाशय' का केवल बौद्धिक बखान करके रह गए ? अपने व्यक्तिगत
सामाजिक अस्तित्व में उनकी सच्चाइयो से जूझे बिना उन्होंने अपना व्यक्तिगत
पा लिया ? या कि वे उनसे थोड़ा-बहुत जूझे भी तो जल्द ही अस्तित्व की इस
ह अराजकता से घबराकर उन्होने अध्यात्म का कवच पहन लिया और उस अत्या-
क और काव्य-संभव संघर्ष से पलायन कर गए जिसका वादा उन्होंने शुरू मे किया
तो क्या यह काव्य-संभव संघर्ष नई पीढ़ी को राजकमल चौधरी की कविता में
ार होता दीखा ? इतना तो तय है कि अज्ञेय, कुँवरनारायण जैसे कवियों की
ति आध्यात्मिक संघर्ष की कविता मे होनी ही थी। हम यह शिकायत करने की
तो कर नहीं सकते कि परिणति स्वाभाविक क्यों हुई ? तब क्या इसका मतलब
है कि—नहीं, इन कवियो का प्रौढ़ काव्य आध्यात्मिक संघर्ष का काव्य नहीं है;
उसी प्रकार का विसर्जन या आध्यात्मिक पलायन है जिसके खिलाफ़ वे खुद
खड्गहस्त हुए थे। ऐसी हालत में उनकी भाषा भरोसे की भाषा कैसे हो सकती
ो क्या राजकमल चौधरी की कविता मे हमे वह आध्यात्मिक संघर्ष की भाषा
ी है जो अपने कवि-व्यक्तित्व को व्यापक अस्तित्व की अराजकता मे निष्कवच
के बाद ही प्राप्त होती है ?

हमारी पीढ़ी की कविताओ के साक्ष्य से तो ऐसा ही लगता है। "उसका मरना
के बाहर नहीं है" (धूमिल)। स्पष्ट ही इसका आशय यह हुआ कि राजकमल
का 'मुक्ति-प्रसंग' भारतीय व्यक्ति और भारतीय समाज के सभी स्तरों का
प्रसंग है। जैसा कि अज्ञेय का नहीं है। जैसा कि लक्ष्मीकान्त वर्मा का भी नहीं
ता कि शायद निराला का भी नहीं था।…क्योंकि

मुविधा की तरकीब से बाहर
जहाँ चौधरी अपना कमरौंधा
उतार गए हैं कविता में
वहीं वहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिम्ब है

......
लेकिन एक शराफतमन्द चेहरे के अलावा
वह धूमिल नहीं
एक डरा हुआ हिन्दू है···

गोकि शायद यह निराला का नहीं, भारतीय समाज का और हिन्दी कवि का मूल्यांकन है। 'यहीं कहीं नफ़रत का एक डरा हुआ बिन्दु है'···कवि का आरोप यह है कि हिन्दी कवि सामाजिक सच्चाइयों के जरिए, उनके सन्दर्भ में अपने असली चरित्र को परिभाषित करने से कतराता रहा है और यह काम अब वह ख़ुद करना चाहता है।

रघुवीरसहाय की कविता में अस्तित्व के दोनों स्तरों की अलग-अलग और मिली-जुली छटपटाहट दीखती है। दोनों के असाध्य संतुलन को साधने की कोशिश है। लक्ष्मीकांत वर्मा और विपिन अग्रवाल में वस्तुस्थिति के ठंडे तटस्थ अंकन द्वारा विद्रूप-व्यंग्य को उभारने का आग्रह है। श्रीकांत वर्मा की भी कोशिश इसी के समानान्तर गहरे आत्म-व्यंग्य और विद्रूप की है। धूमिल शायद इन सबको सही नहीं मानते। उनका स्वर आलोचनात्मक है। ये सारी आत्माभिव्यक्तियाँ उन्हें कविता के बाहर एकदम नहीं, तो अपर्याप्त और निर्बल तो लगती ही हैं। वे कुछ और चाहते हैं। वह क्या है ? उनकी कविता का चरितनायक 'डरा हुआ हिन्दू' है। उससे कवि ने तादात्म्य भी स्थापित किया है। अर्थात्, स्वयं को किसी प्रकार विशिष्ट नहीं माना है बल्कि ठेठ अपने परिवेश और संस्कार में अपने को स्थापित किया है। यह एक ताज़गी का अनुभव हमें देता है कि हम जिसे अपनी भाषा की—और अन्ततः अपने सामूहिक मन की काव्यमुक्ति के नाम से पुकार रहे हैं और खोज रहे हैं, उसका एक पहलू यह भी है जो धूमिल की कविता का ध्येय है। कवि मानो यह कह रहा है कि सिर्फ़ चमरौंधा उतार देने से हमारे सामूहिक मन की और हमारी भाषा की काव्यमुक्ति नहीं होगी। हमें अपने असली चरित्र को पकड़ना होगा। धूमिल की कविता का कहना है कि हम इसे पकड़कर भी नहीं पकड़ पाते क्योंकि शायद हममें और हमारी काव्य-सम्बन्धी धारणा में कुछ ऐसा ग़लत है और रहा है जो उसके प्रति अन्धा रहा है। न केवल अन्धा रहा है बल्कि उस अन्धेपन को जाने-अनजाने ढकता रहा है। धूमिल हमारी सामूहिक चेतना के उन अन्धे धब्बों को उजागर करने की कोशिश करते हैं और उन्हें लगता है कि "नंगापन अन्धापन होने के ख़िलाफ़ एक सख्त कारवाई है।" इसका मतलब यह हुआ कि उपरोक्त कवियों में उन्हें आत्मसुरक्षा की चालाकियाँ दीखी हैं (जो कि राजकमल चौधरी में उन्हें नहीं दिखाई देती)। इस मानसिकता को उन्होंने 'डरा हुआ हिन्दू' 'नफ़रत का डरा हुआ बिन्दु', और 'कायर दिमाग़' करके परिभाषित किया है। हम भले ही अपने इस मूल्यांकन को मानें, न मानें, उनका कहना है कि ऐसी मानसिकता की जो अभिव्यक्ति होगी, वह एक राहत भर होगी, वास्तविक आत्माभिव्यक्ति नहीं। मुक्तिबोध ने हमारी कविता में निहित और सक्रिय 'जड़ीभूत-सौन्दर्याभिरुचि' पर प्रहार किया था। धूमिल ने भी कुछ कवियों की चालाक भाषा-पर व्यंग्य करते हुए लिखा है : "तितली के पंखों में पटाखा बाँधकर भाषा के

हलके में कौन-सा गुल खिला दूँ ?"

हमें रघुवीरसहाय और श्रीकांत वर्मा के काव्य-संसार की याद बरबस हो आती है, जब हम धूमिल की कविता में इन पंक्तियों पर आते हैं—"अपने बचाव के लिए/ खुद के खिलाफ हो जाने के सिवा/दूसरा रास्ता क्या है ?···"हमें लगता है कि उन कवियों पर ही कवि ने अपने व्यंग की धार तेज की है। धूमिल की कविता की केन्द्रीय समस्या है—'सही शब्द चुनने का डर'। यह सही शब्द क्या है जिसे यह चरितनायक नहीं चुनता ? जो कि उसे और उसके परिवेश को काव्य-संभव बना देगा ? क्या उसकी चिंता वास्तव में इस सही शब्द के द्वारा अपने 'ख़ुद' को और अपने परिवेश को काव्य-संभव बनाने की है ? प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम देखें कि यह क्या चुनता है ?

> मैं एक डर चुनता हूँ
> सबसे हलका, सबसे बारीक, सबसे मुलायम
> कम-अज़कम जिससे मैं ख़ुद को बाँध सकूँ
> जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को
> कविता में बाँध सकूँ

यह बिम्ब हमें क्या देता है ? यों तो एक अतिव्याप्त अर्थ में हर कवि कविता में यही काम करता है और हर अभिव्यक्ति शब्दों के अनुशासन के ज़रिए ही संभव होती है। पर इस सपाट अर्थ में निश्चय ही यह बिम्ब यहाँ नियोजित नहीं है। पशु अपने-आप में सभ्यता की व्यवस्थाओं से स्वतन्त्र, प्रकृति के साथ एकतान होता है। किन्तु आदमी के द्वारा पालतू बनाया जाकर वह यांत्रिक और निरीह आचरण करता है। निश्चय ही पशु कृषि-कर्म में नियोजित है और उसे बाँधकर ही धरती की उर्वरा शक्ति को उकसाया जाता है : इस तरह यह एक अनिवार्य अनुशासन है और पशु मानो अपनी स्वतन्त्र अस्मिता को भूलकर स्वेच्छा से सभ्य मानव के इस—सभ्यता को जीवित रखने वाले—उत्पादन-कर्म में योग देता है। यानी उसे आदमी की खातिर पालतू और उपयोगी बनने में कोई ऐतराज़ नहीं है। किन्तु कभी-कभी पशु भी जुआ तोड़कर भागना चाहता है। उसकी प्रागैतिक स्वतन्त्रता इस पालतू सभ्यता पर हावी हो जाती है। मानो पशु याद दिला देना चाहता हो कि तुम्हें हो न हो, मुझे तो धरती धुन अर्गल की स्मृति अभी बनी हुई है। मैं सृष्टि के बड़े छन्द से भी बँधा हूँ, मात्र तुम्हारी सभ्यता के छोटे से छन्द से नहीं।

आखिर शब्दों को जुआ तोड़कर भागने की ज़रूरत कब और क्यों होती है ? कृषि-कर्म के समानान्तर जो कवि-कर्म में लगा हुआ है, उसे एकाएक लगता है कि वे शब्द एक निरीह यांत्रिक ढंग से चल रहे हैं और जिसे वह अपना 'अर्थ', अपनी अभिव्यक्ति समझ रहा है, वह दरअसल दूसरों की ही पिटी-पिटाई लीक है। वास्तविक में मौलिक काम लेने के लिए उसे उनके इस अनुशासन से हटाना पड़ती है : उनकी लोच और स्वतन्त्रता को वापस लाने के लिए। यह स्वतन्त्रता और लोच [illegible] [illegible] से कुण्ठित होती है और यह कवि का ही काम है कि वह भाषा को इस

संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उनमें नया अर्थ भरे।" फिर से उन्हें सारगर्भित करे। वैसे यह जुए वाला रूप बहुत मौजूं नहीं है क्योंकि कवि भाषा का स्वामी नहीं, बल्कि सेवक है और इस रूपक में सेवाई की कम, स्वामित्व की गंध ज्यादा है। तो भी इसी के हिसाब से अपनी बात आगे बढ़ाएँ, तो कहना होगा कि समस्या यह नहीं है कि कवि उन जुआ तोड़कर भागते हुए शब्दों को कविता में कैसे नाँधे। जरूरत इस बात की है कि वह कैसे उनका अनुसरण करे और उन्हें जंगल की स्वतन्त्रता में से ताजा होकर आने दे।

मगर इस कविता के चरितनायक की समस्या इन भागते हुए शब्दों को कविता में बाँधने की ही नहीं, बल्कि ख़ुद को बाँधने की भी है और उसकी आत्म-ग्लानि यह है कि वह उस ख़ुद को एक डर से बाँध रहा है। यह 'ख़ुद' क्या है? 'नफ़रत का डरा हुआ बिंदु'। नफ़रत और डर दोनों नकारात्मक आत्मस्थितियाँ हैं और नकार में आदमी जी नहीं सकता। इसलिए वह किसी चीज से बँधना चाहता है। मगर वह उस चीज ('सही शब्द') से भी डरता है। उसकी बजाय वह एक सबसे बारीक, सबसे मुलायम डर को चुनकर ही अपनी ईमानदारी और साहसिकता को प्रमाणित करना चाहता है। कविता का व्यंग्य यही हो सकता है कि यह आत्मरति है, आत्मछल है और पाठक के साथ भी छल है; वास्तविक साहस और ईमान नहीं। पर तब पहला प्रश्न यही दिमाग में उठता है कि यह 'सही शब्द' क्या है? जिसका न चुना जाना इस कविता को केन्द्रीय झुँझलाहट है। तब ये समापक पंक्तियाँ हमारा ध्यान टिकाती हैं :—"फिर भी मैं अंत तक आपको सहूँगा / वादों की लालच में / आप जो कहोगे / वह सब करूँगा / लेकिन जब हारूँगा / आपके खिलाफ़ ख़ुद अपने को तोड़ूँगा/भाषा को थूकते हुए सारी घृणा के साथ / अन्त में कहूँगा, सिर्फ इतना कहूँगा / हाँ हाँ मैं कवि हूँ / कवि याने भाषा में भदेस हूँ / इतना कायर हूँ कि / उत्तरप्रदेश हूँ।···" ये पंक्तियाँ क्या कहती हैं? 'इस क़दर कायर हूँ कि उत्तरप्रदेश हूँ।' यह पंक्ति क्या उस कायरता का अर्थ निर्धारित नहीं कर देती जिस पर चोट करना इस कविता का अभीष्ट जान पड़ता है? उत्तरप्रदेश की कायरता एक खास संदर्भ की ही कायरता होनी चाहिए वरना वह अमूर्तन हो जाएगा। स्वाभाविक रूप से हमें यही लगता है कि वह राजनीतिक कायरता हो सकती है वर्तमान अस्थिरता के संदर्भ में। क्योंकि यों तो वह कायरता का नहीं, बल्कि एक लड़ाकू भाषा का गढ़ रहा है। धार्मिक, राजनीतिक आन्दोलनों का गढ़ भी रहा है। तो उत्तरप्रदेश की आखिर यह कौन-सी कायरता है जो बंगाल की नहीं है, बिहार की नहीं है, मध्यप्रदेश की नहीं है, केरल की नहीं है?···और 'कवि याने भाषा में भदेस हूँ' का क्या तात्पर्य है? निश्चय ही यह उत्तरप्रदेश का तुक नहीं है। क्या कवि का आशय यह है कि ये सारे कवि जो व्यवस्था को तोड़ने की बजाय ख़ुद को तोड़ रहे हैं और परम पाखण्ड के साथ ··· कविताएँ लिखते हैं और भाषा को रचते नहीं, थूकते हैं, ये लोग सिर्फ भाषा ···—अर्थात् कुत्सित-बगार—हैं, वास्तव में भदेस— अर्थात् स्वदेशी, खरे देसी ··· हैं? पता नहीं, कवि का आशय क्या है।

रघुवीरसहाय की पंक्तियाँ स्मरण आना स्वाभाविक है। "न टूटे, न टूटे तिलिस्म सत्ता का / मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट। मत झूठमूठ ऊब मत रूठ मत ऊब सिर्फ टूट /......" अपने को तोड़ने की बात यहाँ भी है। 'कायर' शब्द भी मौजूद है। तो क्या धूमिल का आक्रोश इसी पर है? मगर रघुवीरसहाय की लड़ाई भी तो 'आत्महत्या के विरुद्ध' है। क्या खुद के खिलाफ हो जाना हमेशा अपने कायरतापूर्ण बचाव के लिए होता है? जैसा कि धूमिल की कविता कहती है। क्या बॉदलेर का आत्मपीड़न उसकी सर्जनात्मकता का अनिवार्य अंग नहीं है? फिर वह विद्रोही कवि क्यों कहलाता है? क्या संत कवि भी उस तरह ख़ुद के खिलाफ नहीं होते? हो सकता है कि अपनी उक्ति का इतना अर्थ-विस्तार कवि को अभीप्ट न हो। तब वह ऐसे अतिव्याप्त सामान्यीकरण अपनी कविता पर क्यों लादता है? शायद यह प्रश्न निरर्थक है। क्योंकि कवि जो कहना चाहता है, वही कह रहा है। और उसकी समस्या उस 'आत्म' को, 'ख़ुद' को परिभाषित करने की न होकर उसे एक स्पष्ट और निश्चित राजनीतिक कर्म में नियोजित करने की है। यह भी साफ है कि वह सामाजिक विवेक-चेतना से सम्बद्ध कर्म, और व्यक्तित्व तथा अस्तित्व के संघर्ष से जुड़ी हुई सर्जनात्मकता के बीच कोई अलगाव नहीं देखता और जिन कवियों में यह दुहरी चेतना सक्रिय है, मसलन रघुवीरसहाय में, उन्हें वह अप्रासंगिक ही नहीं, कहीं-न-कहीं एक बुनियादी ईमानदारी से स्खलित भी समझता है।

यह विश्लेषण पर्याप्त नहीं है बल्कि कहना चाहिए यह चर्चा और अधिक निकट विश्लेषण माँगती है। किन्तु इस लोभ को संवरण करना ही उचित होगा क्योंकि लेख सुरसा के मुँह की तरह अन्धाधुंध फैलता ही जा रहा है और हम भूल गए हैं कि हमने कहाँ से छलांग लगाई थी और कहाँ पहुँच रहे हैं। हमने शुरुआत यहाँ से की थी कि भाषा का सम्बन्ध आदमी के व्यक्तित्व से ही नहीं, उसके अस्तित्व से भी है। और अस्तित्व की चेतना का आरम्भ आत्मतुष्टि के विघटन से होता है। आज की कविता में हमें इस आत्म-तुष्टि के विघटन का दृश्य तो दिखाई देता है और ऐसा भी लगता है कि हमारी भाषा में—शब्दों में—अनुभव की वही अराजकता संक्रमित होती जा रही है, जो संस्कृति का गुरुत्वाकर्षण खत्म हो जाने पर पैदा होती है। हम यह भी देख सकते हैं कि हमारे कवियों में व्यक्तित्व की अपर्याप्तता या नगण्यता का विचलित करने वाला बोध भी सक्रिय है। किन्तु क्या वह सचमुच हमें उसके आधारों की जाँच-पड़ताल करने को विवश करता है? क्या वह इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए अपने व्यक्तिगत और सामूहिक अस्तित्व की उस सर्जनात्मकता की तलाश कर रहा है जिसकी बात हमने लेख के बीच उठाई थी? कहीं ऐसा तो नहीं कि आज का कवि भी कविता की बजाय कवि-व्यक्तित्व की ही चिन्ता में ज़्यादा मशगूल है? और कविता से वे सारी उम्मीदें करने लगा है जो उन कवियों ने भी नहीं की थीं, जिनके विरुद्ध उनका विद्रोह इतना मुखर है!

९

प्रासंगिकता का निकष

प्रासंगिक होना हमारा जातीय स्वभाव नहीं है। न हमारी रचना का। मगर शायद अब यह खतरा सचमुच दिखाई देने लगा है कि रचना कहीं सचमुच प्रासंगिक न होने लग जाय। इसीलिए हम उसकी प्रासंगिकता का भी निकष चाहने लगे हैं।

वैसे इस शीर्षक से इतना स्वीकार तो झाँकता ही है कि प्रासंगिकता भी रचना का एक आवश्यक तत्त्व है अवश्य; अब हम रचना की प्रासंगिकता का निकष चाहते हैं तो सहज ही लग उठता है कि हमको रचना के प्रासंगिक होने से कोई ऐन-राज नहीं है मगर उसको एक नारे की तरह आत्यन्तिक रूप में इस तरह उछाले जाने से जरूर ऐतराज है कि जैसे रचना प्रासंगिकता के सिवा और कुछ हो ही नहीं। शायद हमारी चिन्ता यह है कि आज की कविता-कहानी प्रासंगिक होने की कोशिश मे कहीं इतनी दूर न चली जाए कि जो कलामूल्य, काव्य-संस्कृति के जो उपादान हमने पिछले दो-तीन दशकों के संघर्ष से अर्जित किए हैं, वे कहीं इस कुहराम में खो न जायें, अप्रासंगिक न क़रार दे दिए जायें। कुछ अर्सा पहले नयी कविता के प्रतिमानों से ऊबकर 'कविता के नए प्रतिमानों' की खोज और 'साहित्य क्यों ?' का आत्म-परीक्षण क्या इसी प्रासंगिकता की ओर बढ़ने का उपक्रम नहीं था ? उस सारी चर्चा के दौरान यह अहसास बीच-बीच में झलकता था कि हमारी आशंकित अन्तर्राष्ट्रीयता और वास्तविक मनोरचना के बीच एक जबर्दस्त खाई है। एक अपराध भाव जैसा भी··· कि एक रचनाकार की हैसियत से हमारा संवेदन-तंत्र अपने देश की बुनियादी समस्याओं से गहरे विचलित नहीं रहा है।

क्या वात्स्यायनजी ने बहुत पहले 'त्रिशंकु' में—संघर्ष-युग में साहित्य की समस्याओं पर विचार करते हुए—यह बात नहीं उठाई थी कि हमारे साहित्य को सबसे बड़ा खतरा यही है कि उसे कोई खतरा नहीं है ? क्या प्रकारान्तर से उसी

स्थिति का साक्ष्य आज एक आत्यन्तिक विडम्बना के रूप में हमारे सामने नह
हो गया है ? जिन साहित्यिक मूल्यों को हमने अपनी समझ से बड़े पराक्रम
बचा लिया था, वे आज एक तरफ रख दिए गए हैं : नयी पीढ़ी के पास
चिन्ता करने लायक धीरज नहीं बचा। जिन खतरों को हम और-और स
के नाम पर टालते आए थे, वे अब एकाएक प्रत्यासन्न हो आए हैं और अपनी
का प्रतिरोध ले रहे हैं। ऐसी हालत में यदि हमारे द्वारा प्रतिष्ठित कला-मू
साहित्य-चिन्ता के प्रतिमान यदि फ़िलहाल चारों खाने चित होते दिखाई दे र
इसमें कोई अचरज की बात नहीं है।

प्रसंग का शाब्दिक अर्थ ही घोर आसक्ति-संसक्ति है। आसक्ति की श
उस वस्तु या व्यक्ति की समीपता, उसके साथ हमारी संवेदना का विशेष उ
निश्चय ही यह विशेष उलझाव मोह का भी हो सकता है और मोह-भंग क
क्योंकि बिना मोह के मोह-भंग कैसा ?

मगर अपने यहाँ का माहौल कुछ ऐसा रहा है कि न वास्तविक मोह
नौबत आती है, न वास्तविक मोह-भंग की। क्योंकि भारतीय दृष्टि निक
प्रत्यासन्न का तिरस्कार करती है। वह सुदूर की शब्दावली में ही निकट को दे
निकट की शब्दावली में सुदूर को नहीं। निकट चाहे व्यक्ति हो, चाहे वस्तुएँ, वह
चिन्ता का विषय उस तरह नहीं हो पाता। इस अदूरदर्शी अर्थ में क्या हम हमे
प्रकार की अप्रासंगिकता से ग्रस्त नहीं रहे हैं ? (रचना और जीवन दोनों
पर हमारे चिन्तन को प्रासंगिक हुए शताब्दियाँ बीत गईं। मगर हम अब भी
इस तरह प्रभावित होते हैं जैसे वह प्रासंगिक ही हो और उसकी प्रासंगिक
पड़ताल करने की हमें कोई जरूरत ही न हो) जब तक वस्तु-जगत से, मनुष्य
से हमारा नजदीकी का, संवेदनात्मक खुलेपन का रिश्ता था, जब तक चुनौति
तब तक रचना भी थी और आलोचना को भी अवकाश था। मगर जब रच
होकर एक धर्म-दर्शन में ढल गई तो आलोचना भी बन्द हो गई और केवल
पेषण भर शेष रहा। जो पहले रचना का तर्क था, वह धीरे-धीरे मात्र आ
का तर्क बन गया। शताब्दियों तक इसी अप्रासंगिकता में जीते-जीते हमारे लि
मुख परम्परा का यही अर्थ हो भी गया। हम अपना संस्कार ही जीते रहे
संवेदना नहीं। क्या यह हमारे प्रत्यक्ष जीवनानुभव का अपमान नहीं था ?
चुनौतियों से पलायन नहीं था ? संवेदना और संस्कार की किसी भी गहरी क
के अभाव का नतीजा यह हुआ कि हमारी संवेदना निरन्तर भोथरी होती चल
न केवल हमारी मानवीय संवेदना, बल्कि स्वयं हमारी आध्यात्मिक संवेद
कारण स्पष्ट है : समाज का, व्यक्तियों की बिरादरी का, जो चिन्तन कई
साल पहले कभी हमारे यहाँ किया गया था वह आखिर कब तक काम देता
उथल-पुथल इतिहास में हुई, कितनी नई जातियाँ आनी-अपनी समाज-रचन
आई मगर हमारी समाज-व्यवस्था नहीं बदली। बदली हुई परिस्थितियों

आदमी की ही बनाई हुई थी और आदमी के लिए ही बनाई गई थी और वह कालान्तर में अप्रासंगिक भी हो जा सकती है और उसे प्रासंगिक बनाने के लिए उसे बदलना भी जरूरी हो सकता है। हमारी मानवीय संवेदना इसीलिए कुन्द होती गई कि हमने नई वस्तुस्थितियों की चुनौतियों का जवाब देते हुए समाज का नया चिन्तन नहीं किया, नई रचना नहीं की। आध्यात्मिक संवेदना यों कुन्द हुई कि जिस प्रकार समाज के स्तर पर, मानवीय सम्बन्धों के स्तर पर संवेदना का संस्कार से ही लेते रहने की प्रवृत्ति जड़ पकड़ती गई, उसी प्रकार व्यक्तित्व और अस्तित्व, व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों के धरातल पर युगों पहले किसी समय जो संघर्ष किया गया था, जो चिन्तन किया गया था, उसी को अन्तिम प्रमाण मान लिया गया। इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति और विराट का सम्बन्ध भी संस्कारगत और रूढ़ हो गया। वह भी व्यक्ति की अपनी विशिष्ट और अकेली संवेदना के सहयोग से वंचित हो गया। मतलब यह कि आपने दोनों तरफ़ से संवेदना को काट सा दिया। दोनों तरफ संघर्ष की सम्भावनाओं को कुन्द कर दिया। उधर आपने सामाजिक संघर्ष को अप्रासंगिक बना दिया और दूसरी ओर आध्यात्मिक संघर्ष की भी विशिष्टता समाप्त कर दी।

प्रासंगिकता महज़ समसामयिकता नहीं है। रचना की प्रासंगिकता का स्रोत कालातीत और कालबद्ध के तीखे अस्तित्वसिद्ध तनाव में निहित है। इस तनाव से निरपेक्ष तथाकथित कालजयी दृष्टि अप्रासंगिक ही होगी। क्योंकि वह कालजयी दृष्टि नहीं, कालजयी दृष्टि की व्यवस्था और सुरक्षा है। अपनी सामाजिक व्यवस्था देख लीजिए, अपना काव्य-शास्त्र देख लीजिए, यहाँ तक कि वो चीज़ भी देख लीजिए—अपना शास्त्रीय संगीत—जहाँ मैं समझता हूँ आपकी भारतीयता आज दिन भी सौ फ़ीसदी जीवित, सुरक्षित और सक्रिय है, सब जगह वही व्यवस्थाप्रियता आपको मिलेगी। वह व्यवस्थाप्रियता, जिसके चलते हमने एक छोर पर अत्यधिक आत्म-चेतन होने की परेशानियों से भी अपने को बचा लिया और दूसरे छोर पर अवचेतना के अराजक अनुरोधों से भी अपने को सुरक्षित कर लिया। क्या इसमें कहीं एक असुरक्षा-भीत जाति का मनोविज्ञान काम करता प्रतीत नहीं होता जो कि जीवन की चुनौतियों को उभरने से पहले ही समाप्त कर देना चाहता है ताकि उनसे निपटना न पड़े ? यह निश्चय ही एक अतिरंजना है किन्तु अतिरंजना केवल कवियों के इस्तेमाल की चीज नहीं : आलोचना को भी उसकी ज़रूरत पड़ती ही है।

कहने का तात्पर्य यही है कि वास्तविक प्रत्यासन्न स्थितियाँ साहित्य-रचना के लिए एक तगड़ी चुनौती कभी बन ही नहीं पाईं। हमारे अन्य जातीय आचरणों की ही तर्ज़ पर हमारा साहित्यिक आचरण भी, सच पूछिए तो बेहद व्यवस्थाप्रिय रहा है। हमारे लिए साहित्य का निकष रहा कोई लोकोत्तर आनन्द या वैसा ही अमूर्त लोक-मंगल जो एक खास देश-काल में आबद्ध मनुष्यों के समुदाय की वास्तविक परिस्थितियों का अहसास उतना नहीं था—जितना कि एक सुदूर आध्यात्मिक-नैतिक आदर्श। यानी जीवनानुभूति के प्रति हमारी बुनियादी दृष्टि ऊपर से प्राप्त किए गए सिद्धान्तों की रही, नीचे से, यथार्थ के प्रत्यक्ष संवेदनात्मक आघातों से उपजे सबकों

की नहीं। आलोचना का व्यसन रहा नहीं; तनाव की, असामंजस्य की, विकल्पा
अनुभूति की स्थितियाँ कलात्मक प्रेरणा के रूप में कारगर हुई नहीं। सिर्फ स्वी
और सामंजस्य, समन्वय और समर्थन—यही साहित्य की बुनियादी आधार-सं
रही। प्रासंगिकता भी यदि साहित्य-रचना का निकष रही होती तो विद्रोह-वै
की ऐसी विरलता और ऐसी परिणतियाँ न होतीं जैसी कि हुई।

कुल मिलाकर हम एक अजीब अयथार्थ के धुधलके में जीते-रचते रहे हैं।
शास्त्रीयताग्रस्त यथार्थ में, जो कि सुदूर को तो निकट नहीं लाता किन्तु निक
सुदूर और अप्रासंगिक अवश्य बना देता है।

इसका मतलब यह नहीं कि पिछली पीढ़ियों का वह सारा साहित्य और सा
चिन्तन अप्रासंगिक था। दरअसल वह भी भारतीय स्वभाव की इस विकट व्य
इस अप्रासंगिकता से ही संघर्ष करके उपलब्ध किया गया था। वह भी प्रासंगि
को साहित्य की रचना और विचार के केन्द्र में लाने की कोशिश थी। वह लड़ा
शास्त्रीयता के खिलाफ लड़ी गई थी और उसमें बहुत कुछ कामयाबी भी हासिल
यहाँ तक कि अब उसके बल पर हम अपनी परम्परा का पुनर्मूल्यांकन कर सकं
स्थिति में आ गए हैं। उसमें जितना जो कुछ प्रासंगिक और जीवन्त है, उसे
रचना-संघर्ष का अंग बना सकने की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। क्योंकि यही प
दूसरा तथ्य भी हमारे सामने पेश होता है जो रचना की प्रासंगिकता के निक
समस्या से लगा-जुड़ा तथ्य है—पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता का, पुराने कवियों-र
कारों की प्रासंगिकता को अपने लिए पकड़ पाने की ज़रूरत का तथ्य। जो
अभी रचे जाने की ही प्रक्रिया में है उसका प्रसंग तो सामने उजागर ही है, यह
ठेठ समसामयिक जीवन-स्थितियों का ही नहीं, उन रचना-स्थितियों का भी
रचनाकारों की पिछली पीढ़ियों की अपेक्षा में उभरी हैं। हम पाते हैं कि जो
चीज़ नए रचनाकारों की कहानियों-कविताओं और वक्तव्यों में एक सी उभ
आती है, वह है व्यवस्था के प्रति विद्रोह। औरों के लिए हो न हो, इन युवा ले
के लिए कम-से-कम आज की रचना का निकष यही है और रचना की प्रासंगि
का निकष भी यही है। ऐसा मुझे लगता है और ऊपर जो कुछ कहा गया—व्यव
प्रियता के संदर्भ में, वह अनिवार्यतः इससे जुड़ा हुआ है। हालाँकि व्यवस्था
विद्रोह ये दोनों शब्द समकालीन लेखन और चर्चा-परिचर्चा में इस कदर पीटे
घसीटे गए हैं कि इनकी अर्थवत्ता में ही सन्देह होने लगता है। मगर ये कुछ
अवश्य रखते हैं, कुछ निश्चित उत्तेजना को व्यक्त करते हैं, अकारण नहीं है,
तय है और यह सारी बातें दरअसल इसी अहसास से उभरी भी हैं। वर्ना इत
सहज बुद्धि ही बताती है कि प्रासंगिकता भले ही चाहे रचना का एक निकष
हो, रचना की रचनात्मकता स्वयं उसकी प्रासंगिकता का एक विश्वसनीय
अवश्य है, क्योंकि हर सार्थक रचना भाषा की व्यंजना-शक्ति का विस्तार कर
और ऐसी अनुभूतियों का अनुभव भी सम्भव बना देती है जो उस भाषा को
वाले जन समुदाय की पहुँच के बाहर थे। इससे बड़ी और क्या प्रासंगिकता रचन

हो सकती है ? इसीलिए तो हमने कहा कि प्रासंगिक होना मात्र समसामयिक होना नहीं है। जहाँ तक उसके समसामयिक पक्ष का सम्बन्ध है, वह मानवीय परिस्थिति से प्रतिबद्धता का प्रश्न बन जाता है और उस पर सार्त्र आदि ने गहराई से विचार भी किया है। सार्त्र ने फिर भी इस स्तर पर कविता को प्रतिबद्धता प्रश्न से ऊपर रखा है और केवल गद्य साहित्य के ही मानवीय परिस्थिति में प्रतिबद्ध होने की अनिवार्यता पर बल दिया है। यह बात दूसरी है कि हमारे यहाँ गद्य और पद्य का वैसा आत्यन्तिक विभाजन स्वाभाविक तौर पर प्रतिष्ठित हो सका है या नहीं। इस पर बहस हो सकती है और होनी चाहिए।

तो यदि प्रासंगिक होना मात्र समसामयिक होना नहीं है तो (ऊपर वाले विश्लेषण के नतीजों को ध्यान में रखते हुए भी) रचना की प्रासंगिकता का निकष मात्र आज की रचना नहीं बल्कि किसी भी व्यतीत काल की रचना की प्रासंगिकता के अनुभव से भी सम्बद्ध होना चाहिए। पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता का तथ्य हमारे यहाँ उपेक्षित रहा है, इसलिए परम्परा से भी सचमुच का सर्जनात्मक रिश्ता हमारा बन नहीं पाता। मानो परम्परा ही साहित्य की रचना करती आई हो, व्यक्ति नहीं। यदि प्रासंगिकता केवलमात्र समसामयिकता तक सीमित होती तो हम क्यों कालिदास या कबीर या भारतेन्दु या प्रसाद के कृतित्व पर पुनर्विचार करने को बाध्य होते ? निश्चय ही हम उन्हें अपनी रचना-स्थितियों में प्रासंगिक समझते हैं तभी न उनकी चर्चा नए सिरे से उत्साहपूर्वक उठाने की प्रेरणा हमें होती है। उनकी प्रासंगिकता का निकष क्या है ? पच्चीस साल पहले अज्ञेय को केशवदास क्यों प्रासंगिक लगे ? कुछ समय पहले मुक्तिबोध को प्रसाद क्यों प्रासंगिक लगे ? इन प्रश्नों का उत्तर यदि हम दे सकें तो वह इस विवेचन के प्रसंग में भी सार्थक और प्रासंगिक होगा।

अज्ञेय को केशवदास के उदाहरण ने इसलिए आकृष्ट किया कि कविता के शिल्प में, महज कविकर्म में उतना आत्यन्तिक रस लेने वाला कवि उस कवि से थोड़ा भिन्न व्यक्तित्व जरूर रखता है जो भावुक और अधिक महत्वाकांक्षी होते हुए भी केवल परम्परागत भावनाओं की रूढ़ि का ही पालन करके रह जाता है, संवेदना को नहीं बदलता। वह अपने कवित्व की बजाय कविता-कला की चिन्ता करता है। ऐसे कवि में कवि-सुलभ भावुकता की बजाय अपने भाव-संवेगों के प्रति एक प्रकार की तटस्थता भी होगी। निश्चय ही यह तटस्थता, यह शिल्पगत निर्वैयक्तिकता बहुत बड़े कलात्मक महत्त्व की नहीं हो सकती। किन्तु उत्तर-छायावाद की गलदश्रु भावुकता और मुखर व्यक्तिवाद के बीच केशव जैसी स्वाद बदलने वाली निर्वैयक्तिकता भी एक बड़ा स्वाद-परिवर्तन लगेगी। एक अति से छुटकारा पाने के लिए दूसरी अति तक पहुँच जाना शायद नया संतुलन पाने के लिए अनिवार्य है। अज्ञेय ने केशव की ओर ध्यान खींचा तो इसलिए नहीं कि वे केशव को हिन्दी कविता की परम्परा में कोई बहुत बड़ा कवि समझते थे। वे उन्हें केवल उस वक्त की कविता की एक खास जरूरत के हिसाब से प्रासंगिक समझते थे। प्रासंगिकता का तर्क अनिवार्यतया महत्त्व

का, महानता का तर्क नहीं हुआ करता। बल्कि सच पूछिए तो यह महानता वाली धारणा हमारे काव्य-चिन्तन में इस कदर घिस गई थी कि आलोचनात्मक विवेक से इसका कोई सम्बन्ध ही नहीं रह गया था। महान से नीचे तो कविता की कोई हैसियत ही नहीं हो सकती थी। केशव का उल्लेख ऐसी परिस्थिति और परिवेश में एक व्यंग्यात्मक औचित्य रखता था। कवि की बजाय कवि-कर्म की, कविताई की ओर ध्यान आकर्षित करने की वह कोशिश थी। उस वक्त समस्या थी कविता में बुद्धि के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की; और केशव की 'विट' की ओर ध्यान खींचकर अज्ञेय ने कविता में बौद्धिक सजगता और आत्मशिक्षण के आग्रह को रेखांकित करने की कोशिश की थी। इसका मतलब यह हुआ कि केशव की प्रासंगिकता का निकष अज्ञेय के लिए खुद अपने समय की रचनात्मक जरूरत थी, उसमें आ गई रुकावट का प्रतिकार करने की नई दिशा निकालने की सामर्थ्य थी।

पूछा जा सकता है कि पुराने कवियों की प्रासंगिकता का उद्घाटन करने की इतनी ही फ़िक्र यदि अज्ञेय को थी तो क्यों नहीं उन्होंने तुलसीदास को पकड़ा? इसका उत्तर साफ़ है: तुलसी प्रासंगिक नहीं थे। पूछा जा सकता है कि प्रसाद को क्यों नहीं पकड़ा? यह प्रश्न ज़रा टेढ़ा और विस्तार में ले जाने वाला है किन्तु इसका एक तात्कालिक उत्तर तो दिया ही जा सकता है. प्रसाद अज्ञेय के इतना निकट थे कि उनसे अज्ञेय का रचनात्मक सम्बन्ध संघर्ष का ही हो सकता था। यों भी खड़ी बोली का आलोचना-शास्त्र कवियों से ज़्यादा काव्य-प्रवृत्तियों पर टिका हुआ था और प्रसाद का मतलब था—छायावाद। जिससे कि अज्ञेय की लड़ाई थी।

मुक्तिबोध ने प्रसाद की प्रासंगिकता पर विचार किया। यह अभी हाल की घटना है जबकि नई कविता की लड़ाई लड़ी जा चुकी थी। मुक्तिबोध ने प्रसाद को एक कसौटी के रूप में ग्रहण किया। प्रसाद मुक्तिबोध के लिए इसलिए प्रासंगिक हुए कि मुक्तिबोध प्रसाद की रचना-दृष्टि को सही और जीवन दर्शन को ग़लत समझते थे। मुक्तिबोध जानते थे कि भारतीय दृष्टि का जितना विवेकसम्मत उपयोग प्रसाद की कविताओं में है उतना और किसी में नहीं है। अधिक-से-अधिक यथार्थ को, अधिक-से-अधिक जीवन की आलोचना को, अधिक-से-अधिक इतिहास बोध को रचना में एकाग्र करना—यह प्रसाद की रचनादृष्टि थी। मुक्तिबोध की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति और [illegible] यही थी और उन्होंने समझ लिया था कि बिना इस कवि से निपटे काम नहीं चलेगा। अज्ञेय ने केशव की कविताई के प्रसंग से बेन जॉन्सन को याद किया था। इसे अजीब विडम्बना ही कहना होगा कि अज्ञेय का ध्यान इस ओर नहीं गया कि हिन्दी [illegible] एक कवि ऐसा है जिसका स्वभाव बेन जॉन्सन जैसा है। अतिरंजना और विद्रूप [illegible] यथार्थ को अभिव्यक्त करने की वैसी ही प्रवृत्ति, एलेगरी का वही आकर्षण, [illegible] मनोविज्ञान का कुछ वैसा ही उपयोग हमें प्रसाद में भी मिलता है और मुक्तिबोध [illegible] रचनाओं में भी इस प्रकार का स्वभाव-साम्य आप ढूँढ सकते हैं।

एलियट ने ड्राइडन की आलोचना के प्रसंग में बेन जॉन्सन को ड्राइडन से [illegible] बड़ा कवि इस आधार पर ठहराया है कि बेन जॉन्सन में अपनी जीवन-दृष्टि

थी और डायडन में नहीं है । अब जहाँ तक इस जीवन-दृष्टि का सवाल है, मुक्तिबो ने पाया कि प्रसादजी की पुष्ट यथार्थ चेतना धीरे-धीरे इस दृष्टि से एकाकार हो गई है जो कि अन्ततोगत्वा भारतीय धार्मिक दृष्टि है, जो कि वर्ग-संघर्ष की स्वीका नहीं करती । मुक्तिबोध के भीतर शायद कहीं गहरे यह अहसास रहा हो कि हिन्दुस्ता में मानवीय संवेदना का शोषण बहुत हद तक इसी स्थितिशील जीवन-दृष्टि की तानाशाही के कारण है । उन्होंने 'कामायनी' पर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार किया औ पाया कि 'कामायनी' का समाधान पीछे की ओर देखने वाला है, आगे की ओर नहीं

तो मुक्तिबोध के लिए प्रसाद की प्रासंगिकता का निकष क्या था ? रचना औ जीवन-दर्शन का सम्बन्ध । ऊपर हमने देखा था अज्ञेय के लिए किसी रचना की प्रासंगिकता का निकष है : खुद अपने समय की रचना की जरूरत । उसमें आ गई अवरुद्धता का प्रतिकार करने में जो रचनाकार सहायक सिद्ध हो सके, वही प्रासंगिक है । हम अब देखें कि इन दोनों कसौटियों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? हमने देखा कि प्रसाद मुक्तिबोध की रचना-दृष्टि के कायल थे । रचना के उस विकास-क्रम के जिसमें से एक पूरी विशिष्ट जीवन-दृष्टि उभरे । हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि नयी कविता पर उनका जो आरोप था वह था जड़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि । अर्थात्, वे अपने वक्त के रचना-प्रवाह की अवरुद्धता का कारण यह समझते थे कि वह जीवन की चुनौतियों से संघर्ष के रिश्ते में नहीं ढली है । वह सुरक्षा-पसन्द है । वह एक गतिशील जीवन-दर्शन से सम्बद्ध नहीं है । अपनी काव्य-परम्परा में उन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो एक कवि उन्हें ऐसा दीखा जिसमें यह तत्त्व सक्रिय था । जीवन-दृष्टि और सर्जनात्मकता के अनिवार्य सम्बन्ध का तत्त्व । यह दूसरी बात है कि वह जीवन-दृष्टि उन्हें अपनी विचारधारा के मुताबिक नहीं लगी, असंगत और अव्यावहारिक लगी । उन्होंने देखा कि उस जीवन-दर्शन में आदमी के सामाजिक अस्तित्व की जटिलताओं का चिन्तन नहीं है । यदि समरसता से ही सामाजिक न्याय स्थापित हो सकता तो हिन्दुस्तान में बहुत पहले समाजवाद आ चुकना चाहिए था । कम-से-कम जात-पाँत के आधार पर मनुष्य की पहचान और प्रतिष्ठा की अमानवीय व्यवस्था भंग हो जानी चाहिए थी । इस प्रकार प्रसाद की रचनाओं में जीवन-दृष्टि और सर्जनात्मकता के सहयोग को सराहते हुए भी मुक्तिबोध को वह जीवन-दृष्टि अधूरी (और विकलांग) लगी और उन्होंने पाया कि उसमें एक तत्त्व अनुपस्थित है और वह है सामाजिक अन्तरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना । कुँवरनारायण की कविता पर विचार करते हुए उन्हें एक विशिष्ट प्रकार की आत्म चेतना के साथ-साथ यह विवेक-चेतना वाला तत्त्व भी झलक मारता दिखाई पड़ा था और इसी की सराहना उन्होंने की थी ।

तो इस सारी बातचीत से क्या नतीजे निकलते हैं ? रचना की प्रासंगिकता का निकष इकहरा नहीं हो सकता क्योंकि वह रचना की ही प्रासंगिकता का निकष है, किसी और चीज का नहीं । रचना वह प्रासंगिक है जिसकी रचनात्मकता सभ्य-संस्कृति के मूल्यों के स्तर पर भी प्रासंगिक हो । इसके साथ-ही-साथ रचना वह प्रासंगिक है जो अपने समय की मानवीय सच्चाइयों का उनकी पूरी जटिलता में साक्षात्कार करती हो ।

यह दोहरी प्रासंगिकता रचना की राह में हर अवरोध को, हर रचना-द्रोही परिस्थि
को तोड़ने वाली होगी और मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाली होगी
जाहिर है कि यह तभी हो सकता है जब रचना मात्र समसामयिक ही न हो, बलि
मनुष्य की स्वतंत्रता को कुण्ठित करने वाले हर खतरे को सूंघ लेने वाली हो। अती
की वर्तमानता को भी पहचानने वाली हो। बिना ऐतिहासिक बोध के यह कैसे संभ
होगा ? संक्षेप में, प्रासंगिक रचना वह है जो मनुष्य की, मानवीय नियति की चिन्त
बुनियादी तौर पर करती हो चाहे इसके लिए रचनाकार धार्मिक दृष्टि को प्रासंगि
समझे, चाहे वर्ग-चेतना की दृष्टि को। जरूरत इस बात की है कि रचना में आलोचन
का खुलापन भी हो